टिप्पणी—१ *'सहि सक न भार उदार अहिपति'* इति। (क) वानर-भालु पहले भी तो पृथ्वीपर रहते थे तब कैसे उनका बोझा सह सकते थे जो अब ऐसा लिखते हैं? उत्तर—पहिले सब एक जगह नहीं थे—*'गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी॥'* अब सब सिमिटकर एकत्र हुए हैं; अतएव भार भारी हो गया। अथवा, प्रथम कपि *'कपिन्द'* थे, अब पक्षयुत-सुमेरुसम हो गये; अतएव भार अधिक हो गया। यथा—*'रामकृपा बल पाइ कपिंदा। भये पक्षयुत मनहुँ गिरिंदा॥'* अथवा, जब वानर आकाशमें चलते हैं तब शेषपर भारी बोझ नहीं रहता, जब पृथ्वीपर उतरकर *'कोटि कोटिन्ह धावहीं'* तब बोझ भारी हो जाता है तब सह नहीं सकते। (ख) गर्जन दिग्गज न सह सके, भार शेष न सह सके।

नोट—२ एकत्र होनेपर बोझा एक ही तरफ पड़नेसे पृथिवीका एक ओर झुकना स्वाभाविक है पर बोझा तो ज्योंका-त्योंही बना रहेगा। हाँ यह अवश्य है कि ऊपरसे कूदकर पृथ्वीपर आनेसे फिर उछलनेसे और फिर कूदनेसे धमधमाहट और झोंका होनेसे पृथिवीका डगमगाना उचित ही है। और, उस समय शेषादिका भार न सह सहना ठीक है। वस्तुतः यहाँ 'अतिशयोक्ति अलङ्कार' है।

नोट—३ यहाँतक दिखाया कि रघुवीर प्रयाणकी खबर त्रैलोक्यमें पहुँच गयी—फड़कन (अंगस्फुरण) द्वारा श्रीजानकीजीको धैर्य धारण करानेके लिये उनके अंग फड़के। ४०० कोशमें खलबली मची और खबर पहुँची—(१)। मनके हर्षद्वारा सूर्यलोक, चन्द्रलोक, इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक, दशों दिक्पालों और मुनियोंके आश्रमोंमें खबर पहुँची—(२)। भारके द्वारा शेषजीको खबर पहुँची—(३)।

टिप्पणी—२ *'बारबारहिं मोहई'* से जनाया कि सावधान होते हैं, फिर थोड़ी ही देरमें पुनः *'मोह'* को प्राप्त हो जाते हैं जैसा आगे कहते हैं—*'गह दसन पुनि पुनि······।'*

नोट—४ *'बारबारहिं मोहई'* इति। *'मोहई'* के भिन्न-भिन्न अर्थ लोगोंने किये हैं जो ये हैं—'व्याकुल या असावधान हो जाते हैं', 'मूर्च्छित हो जाते हैं', 'भ्रम या संदेहमें पड़ जाते हैं।' श्रीमहादेवदत्तजी लिखते हैं कि यहाँ ''भ्रम या चित्तमें अनेक प्रकारकी चिन्ता होना' यह अर्थ 'मोह' का है; वे सोचते हैं कि भार सहन करनेमें ऐसा रहस्य मेरा कभी न हुआ कि भार सहना कठिन हो गया हो। 'मूर्छित' अर्थ यहाँ असंगत है क्योंकि यदि शेषजी मूर्छित हो जाते तो पृथ्वी उलटकर गिर जाती।''

मेरी समझमें *'मोहई'* की विस्तृत व्याख्या श्रीहनुमन्नाटकके उपर्युक्त उद्धृत श्लोकों (जो ऊपर नोट १ में अर्थके पश्चात् दिये गये हैं) में है और किंचित् गीतावलीके निम्नलिखित उद्धृत पदमें है, वही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। हनुमन्नाटकके उद्धृत श्लोकोंके **'कृतफणाप्राग्भारभंगक्रमः', 'स्तब्धैः शिरोभिर्भुवम्'** और **'भुग्नो भुजंगाधिपः'** इन पदोंसे भाव यह निकलता है कि वीर वानरोंके विक्रम भारसे शेषजी घबड़ा गये, बारम्बार साँस लेते हैं, उनके फणोंके अग्रभाग भुग्न अर्थात् मर्दित हो गये हैं, वे स्तब्ध सिरोंसे पृथ्वीको धारण किये हुए हैं। तीसरे श्लोकका भावार्थ यह है कि वानरोंकी सेनासे धँसी हुई पृथ्वीके भारसे आक्रान्तदेह शेषजी उखड़कर गिरते हुए अपने दशनरूपी टाँकीसे कमठराजके खर्परपर आपके प्रयाणकी प्रशस्तिको लिख रहे हैं। गीतावली ५। २२ में कहते हैं कि—*'नभ निसान हनुमान हाँक सुनि समुझत कोउ न अपान॥ दिग्गज कमठ कोल सहसानन धरत धरनि धरि धीर। बारहि बार अमरषत करषत करकैं परीं सरीर॥'* यहाँ *'मोहई'* के स्थानपर *'अमरषत करकैं परी सरीर'* है। अर्थात् क्रोधमें भर जाते हैं कि आज यह क्या हमारा अपमान हो रहा है कि पृथ्वीका भार हमसे नहीं सहा जाता और यह समझकर बलसे खींचते हैं, उससे शरीरमें करक (पीड़ा) हो जाती है।

टिप्पणी—३ *'गह दसन पुनि पुनि कमठपृष्ठ कठोर।'*—(क) पुराणानुसार पृथ्वीके नीचे दिग्गज हैं, उनके नीचे शेष, शेषके नीचे कमठ—अतः उसी क्रमसे यहाँ कहा। (ख) शेषका फण नम्र हुआ जाता है, इसीसे वे कमठपृष्ठको दाँतोंसे पकड़ते हैं, तब आधार पानेसे सावधान हो जाते हैं। जब कमठपृष्ठपर दाँत नहीं ठहरता या छूट जाता है तब वे मोहको प्राप्त होते हैं। (ग) *'सो किमि सोहई'*—भगवान्के कार्य करनेमें 'मोह' भी हो तो शोभा है, अतः *'सोहई'* कहा। अथवा, रामयश लिखना शोभा है। इसके

सम्बन्धसे 'मोह' होना शोभा ही है। अत: 'सोहई' कहा।—(इस कथनसे कच्छपभगवान्‌की स्थिरता दिखायी, शेषजी भी उनका सहारा लेते हैं। यहाँ शंका यह भी हो सकती है कि जब शेषजी कमठपृष्ठको दाँतोंसे पकड़ने लगते हैं तब पृथ्वी अपने स्थानपर कैसे स्थिर रहती है? इसका समाधान यह है कि शेषजीके एक सहस्त्र मस्तक हैं। जिस मस्तकपर पृथ्वी रहती है वह मस्तक जब पृथ्वीके भारसे पीड़ित हो जाता है तब वह सहारेके लिये कच्छपकी पीठपर अपने दाँत दे देता है, उस समय उसके बगलवाले सिरपर ही पृथ्वी थम जाती है। इसी प्रकार जब यह भी पीड़ित होकर नीचे जाता है तब पूर्ववत् उसके बगलवाले सिरपर पृथ्वी टिकी रहती है और उधर जो पहले नीचे गये हैं वे शान्त होकर ऊपर उठ जाते हैं। ☞ शेष, कच्छपभगवान्, दिग्गज और वाराहभगवान् किस क्रमसे स्थित हैं इस विषयपर बालकाण्ड २६० (१-३) में विस्तारसे लिखा जा चुका है।

टिप्पणी—४ *'रघुबीर रुचिर पयान प्रस्थिति जानि।'* इति। (क) प्रबल शत्रुपर प्रभुने चढ़ाई की, अत: *'रघुबीर'* कहा। [मा० त० सु०—१ *'रघुबीर'* साभिप्राय है। राघवजीका वीररस यहींसे प्रारम्भ हुआ; वा युद्धकार्यमें वीररसका ही ध्यान मंगलकारक है; अत: 'रघुबीर' पद दिया। २—*'रुचिर'* क्योंकि यात्रा सुर, नर, मुनि सबको आनन्ददायिनी हुई। ३—*'पावनी प्रस्थिति'* क्योंकि इस यात्रामें महा अधम राक्षस तुरंत पवित्र हो परमधामको प्राप्त हुए। *'परमसुहावनी'* क्योंकि विभीषणको राज्य, वानरोंको कीर्ति और चरित्र गानेवालोंको भक्ति और परमपददायिनी है—*'रावनारि जस पावन गावहिं सुनहिं जे लोग। रामभगति दृढ़ पावहिं०।'*] (ख)—**प्रस्थिति**=मुहूर्त। पुन:, **प्रस्थिति**=प्रकर्ष करके स्थिति। अर्थात् पयानकी स्थिति बनी रहे कि अमुक समयमें प्रभुने प्रस्थान किया था, इसलिये मानो इस समयकी कुण्डली लिख रहे हैं। (ग) *'जानि परम सुहावनी'* का भाव कि जो वस्तु बहुत सुन्दर होती है उसे लोग लिख लेते हैं, इसीसे ये भी लिख रहे हैं। अथवा, सबको सुहावनी है और शेषजीको परम सुहावनी है; क्योंकि प्रभु इनका भार उतारने जा रहे हैं। *'परम सुहावनी'* है; इसीसे स्वयं लिखते हैं। यहाँ पयान, कमठ और शेष तीनोंकी शोभा कही। (घ) *'जनु कमठ खर्पर।'* इति। रामयश पवित्र है एवं अविनाशी। अतएव पवित्र और अविचल वस्तुपर लिखते हैं, जिसमें बहुत दिन रहे। मिट न जाय, भूल न जाय, इससे पुन:-पुन: लिखते हैं। जैसे कई पंक्ति लिखनेमें लेखनी एक पंक्तिके अन्तपर छूटकर तब दूसरी पंक्तिपर आती है; वैसे ही शेषजी कमठपृष्ठमें दाँत लगाये मानो लिखते हैं। दाँतका उसपरसे छूट या हट जाना एक पंक्तिका लिख जाना है। पुन:-पुन: पीठको पकड़ना यही नयी-नयी पंक्तियोंका लिखना है। (ङ) कवियोंने यहाँ बहुत समझ-बूझकर उत्प्रेक्षा की है। शेषजी भगवद्भक्त हैं, उनके लिये ऐसी उत्प्रेक्षा चाहिये ही थी कि मोहमें भी श्रीरामजीके प्रस्थानकी कुण्डली लिखते हैं।

नोट—५ यहाँ शेषजी लेखक हैं, उनके अविचल हजारों मुखोंके दाँत लेखनी हैं, कच्छपभगवान्‌की अविचल कठोर पृष्ठ अविचल पत्र (कागज) है, पीठको पकड़ना लिखना है—यदि ऐसा कहें तो स्याही (मसि) क्या है, यह बाहरसे लाना होगा। इससे हनुमन्नाटकके अनुसार रूपक विशेष संगत होगा। पत्थर आदि कठोर वस्तुपर अक्षर खोदे जाते हैं, वे बहुत कालतक रहते हैं, टाँकीसे अक्षर खोदे जाते हैं। वैसे ही यहाँ शेषजी (अक्षरावलीके) करोदने, नक्शा करनेवाले, टाँकीद्वारा लिखनेवाले हैं। उनके दाँत टाँकी हैं। मोहित होनेपर सिरोंके नीचे झुक जानेपर दाँतोंसे कच्छपभगवान्‌की कठोर अविचल पीठको पकड़ना जिससे उसपर चिह्न बन जाते हैं, यही दंतरूपी टाँकीसे अक्षरोंका खोदना है। टाँकीसे एक बार चोट देकर फिर टाँकीको उठाकर फिर चोट दी जाती है, वैसे ही शेषजीका सावधान होकर सिर उठाना यही टाँकीका पुन: उठाना है और फिर मोहित हो कमठपृष्ठ पकड़ना पुन: टाँकी लगाना है। इस प्रकार बारम्बार टाँकी लगती है। हजारों मुखोंके दाँत एक साथ पीठपर पड़नेसे एक पंक्ति-सी बन जाती है, यही एक पंक्तिका एक ही बारमें लिखना है।

यहाँ शेषजी, कच्छपजी और उनके सर्वांग सभी सुन्दर, पावन और अविचल हैं।

वीर कविजी—शेषनाग पृथ्वीका भार धैर्यपूर्वक धारण करनेमें आदरयोग्य हैं। उन्हें अयोग्य ठहराकर

इस सम्बन्धसे वानरी दलकी अतिशय प्रशंसा करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार' है। बोझसे दबकर और यह सोचकर कि कहीं खिसक वा फिसल न पड़ें कमठपृष्ठको दाँतोंसे पकड़नेकी चेष्टा करनेसे उसपर निशान हो रहे हैं। यही उत्प्रेक्षाका विषय है। न तो कमठपृष्ठ कागज है और न शेषदशन लेखनी है। केवल कविकी कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

प० प० प्र०—इन छन्दोंका मिलान धनुर्भंगके *'भरे भुवन घोर कठोर रव रबिबाजि तजि मारग चले। चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरुम कलमले॥'* (१। २६१) इन चरणोंसे मिलान करनेसे धनुर्भंग ध्वनिमें यह विशेषता थी कि *'कोल कूरुम कलमले'* और इस समय *'कोल कूरुम'* (वराह तथा कच्छपभगवान्) स्थिर बने रहे। पुनः भाव कि*'कौतुक लागि संग कपि सेना'* ली है (अतः यह भी एक कौतुक दिखाया)।

दो०—एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर।
जहँ तहँ लागे खान फल भालु बिपुल कपि बीर*॥ ३५॥

अर्थ—इस प्रकार दयासागर श्रीरामजी समुद्र-तटपर जाकर उतरे। बिपुल (बहुत) वीर भालु-वानर जहाँ-तहाँ फल खाने लगे॥ ३५॥

टिप्पणी—१ (क) *'एहि बिधि'*-'जैसा ऊपर *'चितइ कृपा करि राजिवनयना।'''''''हरषि राम तब कीन्ह पयाना॥'* (३५। २) से *'गह दसन पुनि पुनि''''''''* तक कह आये। (ख)—'**कृपानिधि**' विशेषण दिया; क्योंकि जब चले तब वानरोंपर कृपा की, यथा—*'चितइ कृपा करि राजिव नयना।'* और जब समुद्रपर पहुँचे तब उसपर कृपा की, उसके मर्यादाकी रक्षा की; नहीं तो चाहते तो चले जाते, यथा—*'माँगत पंथ कृपा मन माहीं।'* [वा, रावणपर कृपा करके इसी पार उतर पड़े कि अब भी खबर पाकर वह समझ जाय और वानरोंके उपद्रवसे लङ्काका नाश न हो। (पां०)। जानते हैं कि विभीषणजी शरणमें आनेवाले हैं।] अथवा, वानरोंपर कृपा करके '**उतरे**' कि वे भूखे हैं, खूब फल खा लें, तब चार सौ कोश समुद्र पार करें। (ग) '**उतरे**' शब्दके दो अर्थ हैं—एक तो हनुमान्जी और अंगदजीकी पीठसे उतरे।-[वाल्मीकिजीका मत यही है, यथा—'**यास्यामि बलमध्येऽहं बलौघमभिहर्षयन्। अधिरुह्य हनूमन्तमैरावतमिवेश्वरः॥ अङ्गदेनैष संयातु लक्ष्मणश्चान्तकोपम।**' (६। ४। १९-२०) पर मा० त० सु० का मत है कि यहाँ गोस्वामीजीने कुछ न कहकर यह जनाया कि जैसा एक बार पूर्व किष्किन्धामें कहा गया है वैसा ही यहाँ भी समझ लें। अर्थात् दोनों भाई हनुमान्जीकी पीठपर चढ़कर आये, यथा—*'लिये दुवौ जन पीठि चढ़ाई।'*] दूसरा अर्थ है-डेरा डाला। समुद्र हमारे कुलसे उत्पन्न हुआ है, उसकी मर्यादा नष्ट न करनी चाहिये। यह समझकर *'सागर तीर'* उतरे।

नोट—१ *'एहि बिधि जाइ''''''''* इति। (क) *'एहि बिधि'* से यह भी जनाया कि उत्साहमें भरी हुई युद्ध करनेकी इच्छासे, श्रीसीताजीको छुड़ानेके लिये सारी सेना बड़ी उतावली और शीघ्रतासे समुद्र-तटपर आ गयी, कहीं उसने विश्राम न किया, न भोजन किया। यथा—'**गता चमूर्दिवारात्रं क्वचिन्नासज्जत क्षणम्।**' (अध्यात्म० १। ४०), '**हृष्टा प्रमुदिता सेना सुग्रीवेणाभिरक्षिता। वानरास्त्वरितं यान्ति सर्वे युद्धाभिनन्दिनः॥' 'प्रमोक्षयिषवः सीतां मुहूर्तं क्वापि नासत॥**' (वाल्मी० ६। ४। ७१-७२) अध्यात्म० में मार्गमें फल खा लेनेका वर्णन नहीं है। और मानसका भी मत यही है। (ख) *'उतरे सागर तीर'* इति। समुद्रपर डेरा डाल देनेका कारण यह है कि आपसमें परामर्श करना है कि समुद्र कैसे पार किया जाय। यथा—'**इहेदानीं विचिन्ता सा या नः पूर्वमुपस्थिता॥ अतः परमतीरोऽयं सागरः सरितां पतिः। न चायमनुपायेन शक्यस्तरितुमर्णवः॥ तदिहैव निवेशोऽस्तु मन्त्रः प्रस्तूयतामिह।''''''''सर्वाः सेना निवेश्यन्तां वेलायां हरिपुङ्गव। सम्प्राप्तो मन्त्रकालो नः सागरस्येह लङ्घने॥**' (वाल्मी० ६। ४। ९७—१०१) अर्थात् यहाँ पहुँचनेपर वही

---

* दोहरा-दोहा-मिश्रित है-(ब्र० चं०)। विषम चरणोंमेंसे एकमें बारह मात्रा और दूसरेमें तेरह मात्राएँ होनेसे दोहरा-दोहा-मिश्रित कहा जाता है।

चिन्ता उत्पन्न हो गयी है, इस समुद्रका दूसरा तट दिखायी नहीं देता। बिना किसी श्रेष्ठ उपायको विचारे पार होना कठिन है। अत: यहाँ ठहरकर विचार करना चाहिये। हे सुग्रीव! सेनाको तटपर टिका दो, क्योंकि पार होनेके सम्बन्धमें परामर्श करना आवश्यक है।

नोट—२ मार्गमें सात दिन लगे। मार्गशीर्षकी शुक्ला प्रतिपदासे लेकर तृतीयातक ठहरे रहे, चौथे दिन विभीषणजीका आगमन हुआ।

टिप्पणी—२ *'जहँ तहँ लागे खान फल'* इति। इतने वानरोंको एक ही जगह भोजन नहीं अट सकता, अत: *'जहँ तहँ'* पद दिया। यथा—*'सिंधुपार प्रभु डेरा कीन्हा। सकल कपिन्ह कहँ आयसु दीन्हा॥ खाहु जाइ फल मूल सुहाए। सुनत भालु कपि जहँ तहँ धाए॥'* (६। ५) सब रीछों, बंदरोंने फल खाये। श्रीरामजीने तीर्थव्रत किया। अत: उनका फल खाना न कहा। समुद्र तीर्थपति है (प० प० प्र० जी इस मतका विरोध करते हैं। वे लिखते हैं कि शबरीजीके आश्रममें श्रीरामजीने फल खाये। इसके पश्चात् मानसभरमें कहीं भोजनका उल्लेख नहीं है तो क्या इतने दिन उपवास करते रहे? इतने दिन कौनसे तीर्थ-व्रत करते रहे? वस्तुत: भाव यह है कि सभी वानरगण रामभक्त हैं अत: प्रथम जब श्रीरामजीने फलमूलादिका भोग लगाया तब *'जहँ तहँ लागे खान फल भालु बिपुल कपि बीर'।)*

☞ *'तब रघुपति कपिपतिहि बोलावा'* से यहाँतक *'सेन समेत जथा रघुबीरा। उतरे जाइ बारिनिधि तीरा॥'* यह प्रसङ्ग है।

'मिला बिभीषन जेहि बिधि आई'—प्रकरण

उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गएउ कपि लंका॥ १॥
निज निज गृह सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचर कुल केर उबारा॥ २॥
जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आए पुर कवन भलाई*॥ ३॥

अर्थ—जबसे वानर लंका जलाकर चला गया, तबसे वहाँ निशाचर शंकित (डरे हुए, शंका सहित) रहते हैं॥ १॥ सब अपने-अपने घरमें विचार करते हैं कि निशाचर-वंशका (अब) उबार (बचाव, रक्षा) नहीं है॥ २॥ जिसके दूतका बल-वर्णन नहीं हो सकता, उसके स्वयं आनेपर नगरकी क्या और कौन भलाई हो सकती है?॥ ३॥

नोट—१ *'उहाँ राम रजनी अवसेषा। जागे सीय सपन"""॥'* (२। २२६। ३) में लिखा जा चुका है कि कविका *'इहाँ' 'उहाँ'* का प्रयोग साभिप्राय है। *'इहाँ'* से अपनी स्थिति दिखाते हैं कि हम कहाँ हैं, किसके साथ हैं? और *'उहाँ'* से दूसरे पक्षके साथ अपना न होना दरसाते हैं। अत: राक्षसोंके बारेमें जब कुछ लिखना होता है, तब प्राय: *'उहाँ'* पद देते हैं—उदाहरण लंकाकाण्डमें दिये जायँगे।

टिप्पणी—१ (क) वहाँ निशाचर शङ्कित रहते हैं, यह कहकर जनाया कि यहाँ वानर तभीसे शंकारहित हैं। लंकादहनसे राक्षसोंका गर्व नष्ट हुआ, जैसा कि आगे मन्दोदरीजीने रावणसे कहा है। यथा—*'जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बलगर्ब तुम्हारा॥'* (६। ३५। ६) इसीसे वे 'सशंक' हैं। (ख) *'जारि गयउ'* अर्थात् स्वर्णके मकानोंका जलाना सम्भव न था, जिस कामका सामर्थ्य किसीको नहीं था, वह काम एक वानर करके चला भी गया, किसीका कुछ किया न हुआ। अत: *'ससंका'* रहते हैं। (ग) *'रहहिं'* में यह भी भाव है कि रावणका भय न होता तो सब-के-सब यक्षोंकी तरह भाग जाते। यथा—*'देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गये पराई॥'* (१। १७९)

मा० म०—भाव यह है कि हनुमान्‌जीके न रहनेपर भी उन सबको हनुमान्‌जीकी विकराल मूर्ति प्रत्यक्ष देख पड़ती थी, इसीसे वे भयभीत रहते हैं।

टिप्पणी—१ *'निज निज गृह सब करहिं बिचारा""'* इति। आशय यह कि न रावण मानेगा, न

---

* ब्र० चं०—(१) से (५) तक पायकुलक है।

निशाचरकुल बचेगा। अपने-अपने घरमें विचार करते हैं, रावणके डरसे किसीसे कहते नहीं। (सम्भवतः पेनलकोडका परिच्छेद १४४ जारी था। प० प० प्र०)। क्या विचार करते हैं यह आगे कहते हैं—*'जासु दूत………'* इत्यादि। यह मनमें विचार करते हैं और *'नहिं निसिचर कुल केर उबारा'* यह मुखसे कहते हैं, क्योंकि यदि यह मुखसे न कहते तो आगे यह कैसे कहते कि *'दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी'* तात्पर्य यह है कि कुलकी रक्षाका विचार करते हैं, कुछ बचाव नहीं देख पड़ता, तब कहते हैं कि *'नहिं निसिचर कुल केर उबारा।'* [*'करहिं बिचारा'* का भाव यह है कि अपने-अपने घर ब्रह्मराक्षसोंको बुलाकर सगुन निकलवाते थे, तो यही फल निकलता था कि सबका नाश होगा। (मा० म०)]

टिप्पणी—३ उधर कपिकी शंका, इधर श्रीरामजीके आनेकी शंका दोनों शंकाएँ हैं। दोनों शंकाओंके बीचमें पड़े हुए उबरनेका विचार कर रहे हैं। दोनों चौपाइयोंके बीचमें 'उबरनेका विचार' लिखकर अक्षरोंकी स्थितिके द्वारा ही उनके संकटका स्वरूप यहाँ दिखा दिया है। पुनः, इन विचारोंसे यह भी सूचित करते हैं कि इन लोगोंको खबर मिल चुकी है कि समुद्र-पार शत्रुकी सेना आ गयी है। यह बात आगे स्पष्ट है—*'बैठेउ सभा खबरि अस पाई। सिंधुपार सेना सब आई॥'* पुरके लोगोंको पहले खबर मिली, पीछे रावणको।

टिप्पणी—४ *'जासु दूत बल बरनि न जाई।………'* यथा—*'नाथ पवन सुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥'*, *'समुझत जासु दूत कइ करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी॥'* 'बल' अर्थात् वाटिकाको उजाड़ना, निशाचरोंको मारना इत्यादि। *'पुर आये कवन भलाई'* अर्थात् पार आ गयी, अब पुरमें आवेंगे, उनके न आनेमें ही हमलोगोंकी भलाई है, अन्यथा नहीं।

नोट—२ मिलान कीजिये—'**मरुत्पुत्रस्त्वेकः कपिकटकरक्षामणिरसौ समुद्यल्लाङ्गूलो ध्वज इव समाश्लिष्टगगनः। पुनः प्रत्यायास्यत्यहह कपिसैन्ये प्रचलिते पदं प्रोचुर्नीचैर्भयचकितलंकापुरजनाः॥**' (हनु० ६। २९) अर्थात् लंकानिवासी भयसे चकित हो धीरे-धीरे कहने लगे कि 'वह वानरसेनाकी रक्षा करनेमें शिरोमणिरूप, ऊँची लाङ्गूलवाला, ध्वजाके सदृश आकाशको आलिङ्गन करनेवाला मरुत्पुत्र हनुमान्, जिस समय सेना चलेगी उस समय फिर अकेला ही हमारी लंकामें आवेगा।' पुनश्च '**अथवा कपिनैकेन कृतं नः कदनं महत्। दुर्ज्ञेयाः कार्यगतयो ब्रूत यस्य यथामति॥**' (वाल्मी० ६। १२। २२), रावणने ये वचन मन्त्रियोंसे कहे हैं कि यद्यपि समझमें नहीं आता कि वे समुद्र क्योंकर पार करेंगे तथापि यह भी विचार उत्पन्न होता है कि जब एक ही वानरने मेरा इतना बड़ा अपमान किया और मेरी सेनाका नाश कर डाला तब उनके कार्यक्रमका जानना कठिन है। तथा *'लंकादाहु देखे न उछाहु रह्यो काहुन को,कहैं सब सचिव पुकारि पाँव रोपि हैं। बाचि है न पाछे त्रिपुरारिहू मुरारिहू के, को है रनरारि को जौं कौसलेस कोपि हैं॥'* (क० ६। १)—उपर्युक्त उद्धरणोंके सब भाव *'उहाँ निसाचर……भलाई'* में हैं। कवितावलीमें भी कहा है—*'सुभुज मारीच खर त्रिसिर दूषन बालि। दलत जेहि दूसरो सर न साँधो। आनि परबाम बिधिबाम तेहि राम सों सकत संग्राम दसकंध काँध्यो। समुझि तुलसीस कपि कर्म घर घर घैरु………लंक नहिं खात कोउ भात राँध्यो॥'* (६। ४)—इसमें *'रहहिं ससंका'*, *'करहि बिचारा'* और *'तेहि आये कवन भलाई'* की सुन्दर व्याख्या है। इतना भय समा गया है कि साना हुआ भात सामने रखा रह जाता है, वे डर और चिन्तासे खा नहीं पाते। यह भय और चिन्ताकी सीमा है कि कहीं फिर तो नहीं आ रहा है।

नोट—३ *'जासु दूत बल बरनि न जाई।………'* यथा—*'बेग जीत्यो मारुत, प्रताप मारतंड कोटि, कालऊ करालता बड़ाई जीतो बावनो। तुलसी सयाने जातुधान पछिताने मन, जाको ऐसो दूत सो साहब अबै आवनो। काहे की कुसल रोष राम बामदेवहूके बिषम बलीसों आदि बैर को बढ़ावनो॥'* (क० ५। ९), '**यत्संदेशहरेण मारुतसुतेनातारि वारान्निधिः क्षिप्रं गोष्पदवन्निजालयमिव प्रावेशि लंकापुरी। सीतादर्शि समभ्यभासि च वनं चाभञ्जि रक्षः पतेः सैन्यं भूर्यवधिः व्यदाहि च पुरी रामः कथं वक्ष्यते?**' (हनु० ८। १५) अर्थात् जिनके दूत हनुमान्जी गौके खुरके समान सहज ही समुद्रको पारकर अपने घरकी तरह लंकापुरीमें प्रवेशकर सीताजीको देख और उनसे बातें कर वनको विध्वंसकर बहुत-सी सेनाको मारकर और लंकापुरीको

अच्छी तरह जलाकर लौट भी गये, तब तो फिर उनके स्वामी श्रीरामजीका कहना ही क्या?—यह बात जो अंगदजीने रावणसे कही है तथा जो मन्दोदरीजीने कहा है *'पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह कामा॥'* (७। ३५) वे सब भाव *'जासु दूत बल''''''''भलाई'* में हैं।

नोट—४ दूतकी बड़ाईसे स्वामीकी प्रशंसा व्यंजित होना व्याजस्तुतिका दूसरा भेद है।

दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी। मंदोदरी अधिक अकुलानी॥ ४॥
रहसि जोरि कर पति पद लागी। बोली बचन नीति रस पागी॥ ५॥
कंत करष हरि सन परिहरहू। मोर कहा अति हित हिय धरहू*॥ ६॥

अर्थ—दूतियोंसे पुरवासियोंके वचन सुनकर महारानी मन्दोदरी अधिक व्याकुल हुईं॥ ४॥ एकान्तमें हाथ जोड़कर पतिके चरणोंसे लगकर वह वचनोंको नीतिरसमें पागकर (नीतियुक्त वाणी) बोली॥ ५॥ हे कन्त (पति, स्वामी)! भगवान्‌से वैर छोड़ो। मेरा कहना अत्यन्त हितकर जानकर हृदयमें धारण करो॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी''''''''* इति। (क) यहाँ दिखाते हैं कि जो विचार लोग घर-घर करते थे, वह पुरुषोंद्वारा न खुला, स्त्रियोंद्वारा खुला। दूतियाँ स्त्रियोंसे सुन आयी हैं। (ख) *'अधिक अकुलानी'* अर्थात् जितना पुरवासी व्याकुल हैं, उससे अधिक बिकल ये हैं। क्योंकि ये धर्मात्मा हैं, धर्मात्मालोग प्रजाका दुःख देख नहीं सकते। यथा—*'व्याकुल नगर देखि तब आयउ बालिकुमार'* (४। १९), *'कौसल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजा सुख होहिं सुखारी॥'* (२। १७५), *'सिर धरि गुरु आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि पुरजन दुख हरहू॥'* (२। १७६) इत्यादि। [और भाव—पहले अक्षयकुमारपुत्र आदिके शोकसे व्याकुल थी, अब अपना भविष्य वैधव्य विचारकर अधिक व्याकुलता हुई। (प्र०) अथवा, रावणहीका इसमें दोष है, वह हठ पकड़े है, समझाये नहीं समझता, सब पुरवासी भी उसीको दोष दे रहे हैं—यह समझकर 'अधिक अकुलानी'—(मा० त० सु०)]।

टिप्पणी—२ *रहसि*=एकान्त। एकान्तमें कहा; क्योंकि यह बात सबके सामने कहने योग्य नहीं। दूसरे, अभिमानी लोग एकान्तमें कहनेसे बात मान लेते हैं, बहुत लोगोंके सामने कहनेसे नहीं मानते। [पुनः एकान्तमें कहा क्योंकि—(क) स्त्रियोंका प्रभाव पुरुष और फिर कामीपर एकान्तमें ही अधिक पड़ता है। (ख) दूसरोंके सामने कहतीं और वह न मानता तो अप्रतिष्ठा होती। (पं०) इसी तरह **'लंकायां रहसीत्युवाच वचनं मन्दोदरी मन्दिरे।'** (हनु० ९। ५) में भी एकान्तमें ही हाथ जोड़कर विनय करना कहा है। वहाँ भी 'रहसि' शब्द है।] *'पद लागी',* पाँव पकड़कर समझाना स्त्रीका धर्म है, यथा—*'गहि कर चरन नारि समुझावा॥'* (कि० ७) *'नीति रस पागी'* का भाव कि रावण अनीति करता है। बड़ेसे वैर करना अनीति है; वही आगे कहती है—*'कंत करष''''''''*, *'पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह कामा॥'* इसमें नीति यह है कि जो अपनेसे बली हो उससे 'साम' कर लेना चाहिये—*'प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति अस आहि'।* (६। २३)

नोट—१ मिलान कीजिये—**'संदधानो हि कालेन विगृह्णंश्चारिभिः सह॥ स्वपक्षे वर्धनं कुर्वन्महदैश्वर्यमश्नुते। हीयमानेन कर्तव्यो राज्ञा संधिः समेन च॥ न शत्रुमवमन्येत ज्यायान्कुर्वीत विग्रहम्॥'** (वाल्मी० ६। ३५। ८—१०) अर्थात् जो राजा समयानुकूल शत्रुके साथ संधि और विग्रह करके अपने पक्षको दृढ़ करता है, वह भारी ऐश्वर्यको प्राप्त करता है। उसे उचित है कि जब वह अपनेको शत्रुसे हीनबल या समानबल जाने तब शत्रुसे मेल कर ले। ये वचन माल्यवान्‌ने कहे हैं। *'नीति रस पागी बचन बोली'* से जनाया कि पहले इस प्रकार नीति कहकर तब कहा कि *'कंत करष''''''''।* जैसे माल्यवान्‌ने नीति कहकर फिर कहा—**'तन्मह्यं रोचते संधिः सह रामेण रावण।'** (वा० ६। ३५। १०) गीतावलीमें विभीषणजीने भी रावणसे ऐसा ही कहा है। यथा—*'मतो नाथ सोई जातें भलो परिनामैं॥ सुभट सिरोमनि कुठारपानि सारिखेहू*

* 'कंत''''''''' चक्र है (ब्र० चं०)।

लखी औ लखाई इहाँ किए सुभ सामैं।' (५। २५) और कवितावलीमें मन्दोदरीने स्वयं यही कहा है, यथा—*'बिदित बिदेहपुर नाथ भृगुनाथगति, समय सयानी कीन्हीं जैसी आइ गौ परी॥'* (६। २७), *'राम सों साम किये नित है हित॥'* (६। २८) ☞ नीति बिना राज्य स्थिर नहीं रहता। यथा—*'राजु कि रहै नीति बिनु जाने।'* (७। ११२), *'राजनीति बिनु.......।'* (३। २१) रावण अनीतिपर तुला हुआ है, इससे उसका राज्य नष्ट हो जायगा और वह मारा जायगा—यह सोचकर मन्दोदरीने नीतिके वचन कहे। पं० रामकुमारजीका मत है कि *'नीतिरस पागी'*=नीतिरसमें पगी हुई। यह स्त्रीलिङ्ग है और वचन पुँल्लिङ्ग है। अतः यह वचनका विशेषण नहीं है। मन्दोदरीका विशेषण है। किसी औरने भी इसे मन्दोदरीका ही विशेषण माना है पर प्रायः अन्य सब टीकाकारोंने इसे वचनका ही विशेषण माना है। *'नीति रस पागी'* को एक शब्द माननेसे लिङ्गभेद जान पड़ता है। वास्तवमें ये दो शब्द अलग-अलग हैं। अर्थ है—(वचनोंको) नीतिरसमें पागकर। अर्थात् नीतिमय वचन बोली। नीतिरसपागी वाणी कहनेमें यह भी भाव कविने दरसाया है कि वह रावणको जो प्रभुसे वैर करनेको रोकती है वह कुछ इससे नहीं कि सीताजीके आनेसे उसे ईर्ष्या है, वह तो जानती है कि प्रभु ब्रह्म हैं और सीताजी परमशक्ति हैं। वह नीतिशास्त्रके वचन कहती है। (पं०) पूर्व अशोकवाटिकामें भी उसने रावणको नीतिका उपदेश किया था—*'मयतनया कहि नीति बुझावा॥'*

टिप्पणी—३ *'कंत करष हरि सन परिहरहू।.......'* इति। (क) 'कंत'=कं (कल्याणको) +त (तनोति=जो विस्तार करे)। 'कंत' सम्बोधनका भाव कि आप हमारे सौभाग्यके बढ़ानेवाले हैं तथा हम सबोंका कल्याण आपके हाथ है, आप कृपा करके वह कीजिये जिससे हमारा अहिवात रहे और कल्याण हो। सम्बोधनसे यह सूचित कर आगे इसका उपाय बताती है कि श्रीहरिसे वैर छोड़नेसे हमारे (सौभाग्य) सुखका विस्तार होगा, कुल बचेगा, पुत्र बचेंगे, राज्य बचेगा; अतः वैर छोड़िये, सबको बचाइये। यथा—**'पाहि मामङ्गदं राज्यं कुलं च हरिपुङ्गव।'** (अ० रा० ४। २। ३२) नहीं तो वे हरि हैं; सब हर लेंगे। बड़ेसे वैर त्याग देना नीति है। (ख) भाव कि हरिसे वैर करनेसे किसीका भला नहीं हुआ; यह मेरा कथन सत्य है, इसे मान लो। यथा—*'मैं जु कहौं कंत सुनु संत भगवंत सो बिमुख है बालि फल कौन लीन्ह्यो।'* (क० ६। १८) पुनः 'हरिसन' कहकर जनाया कि राम मनुष्य नहीं हैं, भगवान् हैं, जीवमात्रके क्लेशोंके हरनेवाले, सबोंके मनोंको हरनेवाले हैं; अतः उनसे विरोध अयोग्य है, यथा—*'सोइ अवतरेउ हरन महिभारा॥ तासु बिरोध न कीजिय नाथा। काल करम जिव जाके हाथा॥'* (६। ६) इत्यादि भाव 'हरि' में हैं! (ग) *'मोर कहा अति हित'* इति। 'मोर कहा' (=मेरा कथन) का भाव कि मेरे समान आपका अत्यन्त हित चाहनेवाला दूसरा कोई नहीं है, और लोग 'हितकारी' हैं पर मैं 'अतिहितकारिणी' हूँ; अतः मेरी सलाह हृदयमें धारण कीजिये। सीताजीको दे देनेमें ही 'अति हित' है, वह आगे कहेगी—*'सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हें। हित न तुम्हार.......॥'* *'हिय धरहू'* कहा, क्योंकि रावण हितकी बात हृदयमें धारण नहीं करता, यथा—*'हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहुँ भेषज जैसे॥'* अर्थात् जिससे लोक-परलोक दोनों बने वह वचन उसको बुरे लगते हैं। (६। १०; प्रहस्तवाक्य)

श्रीलमगोड़ाजी—*'दूतिन्ह सन सुनि.......'* इति। दूत प्रणालीकी उपयोगिता देखिये। उनमें स्त्रीरूपिणी दूतियोंकी। फिर यह भी विचारिये कि राज्यशासनमें रानी भी कितनी उपयोगिनी है। पर यह है सब तभी जब *'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥'*—वाली बात न हो। गाँधीजी इसीसे तो मन्दोदरीकी प्रशंसा ही करते हैं और हमारे यहाँ उसे प्रातःस्मरणीय माना गया है; कारण कि उसकी ऐसी ही अनेक एकान्तकी विनीत वक्तृताओंसे स्पष्ट हो जाता है कि उसे 'रहस्य' का ज्ञान है।

प० प० प्र०—घरके बाहर किसीसे चर्चा करनेकी मनाही थी। इतना होनेपर भी मन्दोदरीके गुप्तचरोंने सब कुछ जान लिया, यह ध्यान रखनेकी बात है। शंका उपस्थित होती है कि रावणने क्यों नहीं सुना? समाधान यह है कि उसके स्वभावानुसार किसी दूतको कहनेका साहस न पड़ा अथवा रावणने सुनकर *'बिहँसि बहरावा।'*

वि० त्रि०—मन्दोदरी राजकार्यमें भाग लेती है, जिस भाँति रावणके दूत अनेकरूप धारण किये हुए नगरका समाचार रावणको देते हैं, उसी भाँति मन्दोदरीकी दूतियाँ घरोंके भीतरका समाचार मन्दोदरीको देती हैं। रावणके डरसे घरके बाहर कोई विचार नहीं करता, पर घरके भीतर सभी विचार करते हैं कि निशिचरकुल अब उबरता नहीं दिखायी पड़ता। अतः घरके भीतरकी बातका पता मन्दोदरीकी दूतियोंने दिया। बाहर कोई कुछ नहीं कहता था, इसलिये न दूतोंने जान पाया, और न रावणको समाचार दिया। यह समाचार सुनकर सभी रानियाँ आकुल हुईं पर मन्दोदरी बहुत व्याकुल हुई, क्योंकि उसे रामजीके स्वरूपका ज्ञान था।

समुझत जासु दूत कइ करनी। स्त्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी॥ ७ ॥
तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥ ८ ॥
तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥ ९ ॥
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हे। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे*॥१०॥

अर्थ—जिनके दूतकी करनी समझते ही निशाचरियोंके गर्भ गिर जाते हैं॥ ७॥ हे कन्त! यदि भला चाहो तो अपने मन्त्रीको बुलाकर उसके साथ उनकी स्त्रीको भेज दो॥ ८॥ तुम्हारे कुलरूपी कमलवनको दुःख देनेवाली सीता शीतकालकी रात्रिके समान आयी हैं। (अर्थात् जैसे तालाबमें कमल खिले रहते हैं, वैसे ही लंकामें निशाचर प्रसन्न रहते हैं और जैसे शरद्रात्रि कमलका नाश करती है वैसे ही सीताजी तुम्हारे कुलकी नाश करनेवाली हैं।)॥९॥ हे नाथ! सुनिये। बिना सीताजीको दिये शम्भु और ब्रह्माके भी करनेसे तुम्हारा भला नहीं हो सकता। (अर्थात् आपका 'अति हित' इसीमें है कि मेरा कहा मानें, दूसरा कोई आपका हित नहीं कर सकता)॥१०॥

टिप्पणी—१ ***'समुझत जासु दूत कइ करनी'*** इति। (क) 'करनी' सुन्दरकाण्ड ***'निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी'*** (२५। १) से ***'जारा नगरु निमिष एक माहीं।'*** (२६। ६) तक तथा ***'चलत महाधुनि……'*** में वर्णित है। कवितावली सुन्दरकाण्ड तो पूरा नमूना है। लंकादहनके समय इतनी शीघ्रता हुई कि सब भयभीत हो सर्वत्र हनुमान्‌जीको ही देखते थे, यहाँतक कि आँख बंद करनेपर भी वे हृदयमें देख पड़ते थे। यथा—***'अर्ध ऊर्द्ध बानर बिदिसि दिसि बानर हैं, मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिए॥ मूँदे आँखि हीय में उघारे आँखि आगे ठाढ़ो……'*** (५। १७)—वही दृश्य नेत्रोंमें समा गया है, नेत्रोंमें छाया है। अतः ***'समुझत दूत कै करनी'*** कहा। कवितावलीमें मन्दोदरीने करनी यों कही है—***'गहन उजारि पुर जारि सुत मारि तव कुसल गो कीस बरबेर जाको।'*** (६। २१), ***'उदधि अपार उतरत नहिं लागी बार केसरी-कुमार सो अदंड कैसो डाँड़िगो। बाटिका उजारि अच्छ रच्छकनि मारि भट भारी-भारी रावरे के चाउर-से काँड़िगो॥'*** (६। २४), ***'ख्याल लंका लाई कपि राँड़ की सी झोपरी।'*** (६। २७) (ख) ***'स्त्रवहिं गर्भ'*** इति। करनी विचारते-समझते ही गर्भ गिर जाते हैं, गर्जनमात्रसे गर्भ गिर गये, जब अनेकों आकर गर्जेंगे तब क्या होगा यह विचारती हैं। भाव यह कि पहले तो उसके गर्जनसे गर्भ गिरे थे, यथा—***'चलत महाधुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्त्रवहिं सुनि निसिचर नारी॥'*** और, अब जो गर्भ धारण होते हैं वे उसकी करनी समझते ही गिर जाते हैं—(इससे सब स्त्रियोंका अत्यन्त भयभीत होना दिखाया; क्योंकि इससे आगे भी वंशकी वृद्धि नहीं हो सकती)। (ग) मन्दोदरीने सुना है कि राक्षस सशंक रहते हैं पर उसने यह बात रावणसे न कहकर स्त्रियोंका भयभीत होना ही कहा। कारण कि निशाचर रावणके भयसे अपने घर-घर बैठे गुप्त विचार करते हैं, इससे उनका भय न कहा। पुनः वीरोंका सभय होना कहना अनुचित है, अतः न कहा। कहती तो रावण राक्षसोंको दण्ड देता।

टिप्पणी—२ ***'तासु नारि निज सचिव बोलाई……'*** इति। यथा—***'जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस***

* ब्र० चं०—'समुझत' से 'दीन्हें' तक पायकुलक, 'हित……' नयमालिनी।

सुमति सुभ गति सुख नाना॥ सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं॥' (५। ३७) तात्पर्य यह कि वैरकी निवृत्ति सीताजीके देनेसे ही है। (क) *'निज सचिव'*=माल्यवान्, यथा—*'माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन-मातु-पिता मंत्री बर॥'* (६। ४७) भाव कि माल्यवंत भक्त था और सब मन्त्री दुष्ट थे, यथा—*'कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती'* (६। ९)। (ख) *'निज सचिव'* भेजनेका भाव कि उसके जानेसे तुम्हारा जाना समझा जायगा। (ग) रावणको जानेको नहीं कहती, क्योंकि उसे भय है; यथा—*'सादर जनकसुता करि आगे। एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे॥'* (६। २०) और अंगदने कहा है कि इस प्रकारसे चलो, इस डरसे वह कदापि न जायगा। अतः कहा कि मन्त्रीके साथ भेज दो। (घ) *'सचिव बोलाई'* अर्थात् इसमें शीघ्रता करो, जब मन्त्री आवेगा तब उससे कहोगे, यह नहीं, वरंच अभी बुलाकर भेजो; नहीं तो रामचन्द्रजी अब आना ही चाहते हैं, उनके आनेमें देर नहीं है। अतः 'पठवहु' जिसमें वे यहाँ आने न पावें और मन्त्री वहाँ पहुँच जाय। (रावण महा अभिमानी स्वभावका है, वह किसीके सामने नवनेवाला नहीं, इसीसे जो कोई शरणमें जानेको कहता है उसपर वह क्रोध करता है—यह मन्दोदरी जानती है। रावणने माल्यवान्‌के समझानेपर अपना स्वभाव कहा है, यथा—'**द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित्। एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः॥**' (वाल्मी० ६। ३६। ११) अर्थात् मैं क्या करूँ? यह मेरा स्वाभाविक दोष है कि भले ही मेरे दो टुकड़े हो जायँ, पर मैं किसीके सामने नवनेवाला नहीं। और, स्वभाव होता ही दुरतिक्रम है। मन्दोदरीने सोचा कि यदि स्वयं जानेको कहूँगी तो वह यही उत्तर देगा तब फिर कुछ कहते न बनेगा, जैसे माल्यवान् फिर चुप ही हो गया। अतः मन्त्रीद्वारा भेजनेको कहा।)

नोट—१ *'जो चहहु भलाई'* इति। विभीषणजीने जो कहा है कि—'**अयशस्यमनायुष्यं परदाराभिमर्शनम्। अर्थक्षयकरं घोरं पापस्य च पुनर्भवम्॥**', '**एतन्निमित्तं वैदेही भयं नः सुमहद् भवेत्।**' (वाल्मी० ६। ९। १५), (अर्थात्) दूसरेकी स्त्रीको हर लेना केवल बदनामीका ही कारण नहीं है, किंतु आयुको क्षीण करनेवाला भी है। उससे धनका नाश होता है और भारी पाप लगता है। 'सीता' हमलोगोंके लिये बड़े भयकी वस्तु हैं। यदि आप 'सीताजी' को न दे देंगे तो समस्त शूरवीर मारे जायँगे और लंका उजड़ जायगी। ये सब भाव *'जौं चहहु भलाई'* में हैं। ☞इससे जनाया कि श्रीरामजीका अपराध करनेसे किसीका कुशल नहीं हुआ और न तुम्हारा हो सकता है, एकमात्र सीताको दे देनेसे ही उबारा है, अन्यथा नहीं। यथा—*'पिय पूरो आयो अब काहि कहु करि रघुबीर बिरोध॥……कहु धौं कंत कुसल बीती केहिं किए राम अपराधु॥……और प्रकार उबार नहीं कहूँ मैं देखेउँ जगु जोहि॥'* (गी० ६। १); मन्दोदरीवाक्य। न दोगे तो क्षणमें नाश हो जायगा; यथा—*'पावक न होइ जातुधान-बेनु-बन मैं। तुलसी जानकी दिये स्वामी सों सनेह किए कुसल नतरु सब ह्वै है छार छन मैं॥'* (गी० ५। २३); मन्दोदरीवाक्य।

टिप्पणी—३ *'तव कुल कमल बिपिन दुखदाई……'* इति। (क) 'सीता' नाम यहाँ साभिप्राय है। 'सीता जो सदा शीतल रहती हैं, इसीसे क्रोध करके तुमको भस्म नहीं करतीं। कारण कि उनकी शीतलता तुम्हारे कुलभरका नाश करेगी और क्रोध केवल तुमको भस्म करता।—[पूर्व लिखा जा चुका है कि श्रीसीताजी उसे भस्म कर सकती थीं; यह स्वयं उन्होंने रावणसे कहा है। यथा—'**न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा॥ नापहर्तुमहं शक्या तस्य रामस्य धीमतः। विधिस्तव वधार्थाय विहितो नात्र संशयः॥**' (वाल्मी० ५। २२। २०-२१)— अर्थात् मैं अपने पातिव्रत्यके तेजसे जलाकर भस्म कर डालूँ; तेरी मजाल न थी कि तू मुझे श्रीरामजीके रहते हर लाता। निश्चय जान ले कि तेरे द्वारा मेरे हरणका विधान विधाताने तेरे नाशके लिये ही रचा है। ये वचन श्रीसीताजीने मन्दोदरी आदि रानियोंके सामने रावणसे कहे थे। उन्हीं वचनोंको सोचकर मन्दोदरीने कहा है—*'तव कुल……'*] (ख) *'आई'* अर्थात् ये तुम्हारे ले आनेसे नहीं आयीं, किन्तु तुम्हारे कुलका नाश करनेके लिये स्वयं आयी हैं। अथवा, इससे *'आई'* कहा कि यदि यह कहूँगी कि कुलका नाश करनेवाली सीताको तुम ले आये हो तो रावण बड़ा क्रुद्ध होगा। यथा—*'जब ते तुम्ह-सीता हरि आनी। असगुन होहिं न जाहिं बखानी॥……ताके बचन बान सम लागे। करिया मुख करि जाहि अभागे॥'* (६। दो० ४७-४८)

मा० त० सु०—१ रावणका कुल कमलवन है, श्रीसीताजी हिम-ऋतुकी रात्रि हैं। कमल तालाबके जलके आश्रित रहता है। यहाँ लंका तालाब है, रावणका बल जल है जिसके आश्रित राक्षसकुल है। जल रहनेपर भी कमल हिम-ऋतुकी रात्रि आनेपर नष्ट हो जाता है, वैसे ही तुम्हारे रहते हुए भी सब कुल नष्ट हो जायगा। २ (क) 'निशासम' का भाव कि हिम-ऋतुकी रात्रि ही दुःखदायी होती है, दिन दुःखदायी नहीं होता। पुनः, (ख) हित-ऋतुकी रात्रिके संयोगसे चन्द्रमा कमलोंका नाश करता है, वैसे ही रामरूपी चन्द्र सीतारूपी शीत निशाके संयोगसे क्रोधरूपी हिमको बरसाकर तुम्हारे कुलका नाश कर देंगे। यथा—*'प्रगटे जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुषारू॥'* (ग)—हिमसे कमलका अनायास नाश, वैसे ही निशाचर-कुलका अनायास नाश है। पूर्णोपमा अलङ्कार है।

टिप्पणी—४ *'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे'।* (क) कुलका हित कहकर अब रावणका हित कहती हैं। सीताको देकर तुम अपना और अपने कुलका हित कर सकते हो। बिना दिये हित न होगा। (ख) शम्भु और अजका नाम लिया, क्योंकि रावण ब्रह्माका परपोता है और शिवजीका सेवक है। रामका द्रोही है, अतः हित नहीं हो सकता; क्योंकि ब्रह्मा और शिव रामके सेवक हैं; यथा—*'जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥'* (७। १०६) पुनः, यथा—*'बीस भुज सीस दस खीस गए तबहिं जब ईसके ईस सों बैर कीन्ह्यो॥'* (क० ६। १८)

नोट—२ पूर्व जो हनुमान्‌जीने कहा है—*'सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी॥ संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥'* (६। २३। ८)—वही यहाँ मन्दोदरी कह रही है। इससे जान पड़ता है कि हनुमान्‌जीके वचनोंका भारी प्रभाव उसपर पड़ा है। क्यों न हो, जो कहकर उसका नमूना करके दिखा देता है उसका प्रभाव क्योंकर न पड़े? भाव यह है कि महाकालके भी जो काल शंकरजी हैं और तेरे गुरु हैं तथा तेरे पर पितामह ब्रह्माजी भी यदि तुझे गोदमें लेकर बैठ जायँ और तुझे बचाना चाहें तो भी नहीं बचा सकते। यथा—**'जीवन्न रामेण विमोक्ष्यसे त्वं गुप्तः सुरेन्द्रैरपि शङ्करेण। न देवराजाङ्कगतो न मृत्योः पाताललोकानपि सम्प्रविष्टः॥'** (अध्यात्म ६। २। २६; विभीषणवाक्य) **'जीवंस्तु रामस्य न मोक्ष्यसे त्वं गुप्तः सवित्राप्यथ वा मरुद्भिः। न वासवस्याङ्कगतो न मृत्योर्न खं न पातालमनुप्रविष्टः॥'** (वाल्मी० ६। १४। ६)—वाल्मीकीय और अध्यात्मके वाक्योंसे 'संभु और अज' मानसके इन दो ही शब्दोंमें कितना अधिक गौरव और शक्ति है? शंकरजीको प्रथम कहा क्योंकि ये गुरु हैं, इष्टदेव हैं। और कहा है कि *'राखइ गुर जौं कोप बिधाता।'* (१। १६६) इसकी ओर संकेत है कि गुरु भी रक्षा नहीं कर सकते।—यहाँ 'प्रथम विनोक्ति अलङ्कार' है।

दो०—राम बान अहिगन सरिस निकर निसाचर भेक।
जब लगि ग्रसत न तब लगि जतनु करहु तजि टेक॥ ३६॥*

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके बाण सर्पोंके समूहके समान हैं और निशाचर-समूह मेंढकके समान हैं। जबतक वे राक्षसोंको ग्रसते (=निगलते) नहीं तभीतक हठ छोड़कर उपाय कर लो॥ ३६॥

टिप्पणी—१ मन्दोदरीकी वाणीको *'नीति रस पागी'* कहा है। उसके वचनोंमें साम, दाम, भय और भेद—चारों नीतियाँ हैं। यथा—१—*'कंत करष हरि सन परिहरहू',* यह साम है, वैर छोड़ो, मेल कर लो। २—*'तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत''''',* यह दाम है। कुछ देकर शत्रुको मिलाना 'दाम' है। ३—*'जो चहहु भलाई'* से *'जब लगि ग्रसत न तब लगि जतन करहु तजि टेक'* यह भय है। ४—*'समुझत जासु दूत कै करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी॥'* यह भेद है। अर्थात् न मानोगे तो डरे हुए निशाचर उधर जाकर मिल न जायँ।

नोट—१ मिलान कीजिये अन्य रामायणोंके ऐसे ही विभीषणके वाक्योंसे; यथा—**'सुवर्णपुङ्खाः सुभटाः**

---

* दोहा दोहरा मिश्रित है—(ब्र० चं०)।

सुतीक्ष्णा वज्रोपमा वायुमनः प्रवेगाः। यावन्न गृह्णन्ति शिरांसि बाणाः प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली॥' (हनु० ७। ८) अर्थात् हे रावण! सुवर्णके पुङ्खोंवाले, अमोघ, अत्यन्त तीक्ष्ण, वज्रके सदृश, पवन और मनके तुल्य वेगवाले बाण जबतक तुम्हारे सिरोंको नहीं लेते, तबतक तुम दशरथके पुत्र श्रीरामजीको जानकी दे दो। पुनश्च, **'पुरा शरत्सूर्यमरीचिसंनिभान् नवाग्रपुङ्खान् सुदृढान् नृपात्मजः। सृजत्यमोघान् विशिखान् वधाय ये प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली॥'** (वाल्मी० ६। ९। २२) अर्थात् जबतक श्रीरामजी सूर्यकिरणके समान चमचमाते हुए पंखवाले अत्यन्त दृढ़ और अमोध बाण आपके वधके लिये नहीं छोड़ते उसके पूर्व ही आप 'सीताजी' उनको दे दें। पुनश्च, **'यावन्न गृह्णन्ति शिरांसि बाणा रामेरिता राक्षसपुङ्गवानाम्। वज्रोपमा वायु समानवेगाः प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली॥'** (वाल्मी० ६। १४। ४) अर्थात् वज्रसमान भयंकर और वायुवेगवाले बाण जबतक राक्षसोंके सिरोंको नहीं काटते उसके पूर्व ही जानकीजीको दे दो। (यह विभीषणजीने कहा है)। रामबाणकी करालता खर-दूषणवध-प्रसङ्गसे मन्दोदरीको विदित हो चुकी है; इसीसे वह उनको अहिगण कह रही है और युद्धमें वह चरितार्थ भी है। यथा—*'तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु ब्याल॥'''''''चले बिसिख निसित निकाम।'* (आ० २०) *'सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा। कालसर्प जनु चले सपच्छा॥'* (६। ६७) *'तानेउ चाप श्रवन लगि छाँड़े बिसिख कराल। राम मारगन गन चले लहलहात जनु ब्याल॥'* (६। ९०), *'चले बान सपच्छ जनु उरगा।'*, एवं *'खैंचि सरासन श्रवन लगि छाँड़े सर एकतीस। रघुनायक सायक चले मानहु काल फनीस॥'*, (६। १०१), *'''''''अपर लगे भुज सिर करि रोषा।'*—उपर्युक्त उद्धरणोंमें रामबाणके लिये जो विशेषण या उत्प्रेक्षाएँ आयी हैं, वे सब *'अहिगन सरिस'* की व्याख्या ही समझिये। नोट—२ इस दोहेमें धर्मलुप्तोपमा और रूपक अलङ्कार हैं।

टिप्पणी—२ (क) रामबाण अहिगणसदृश हैं; अर्थात् सर्प-सरीखे वे भी सविष हैं, सपक्ष हैं; 'लंबित' हैं, ग्रासक हैं, फुङ्कारयुक्त हैं, सवेग हैं, भयंकर हैं और मृत्युकारक हैं। (ख)—निशाचर मेंढक हैं; अर्थात् जैसे सर्प मेंढकोंको खोज-खोजकर खाते हैं, वैसे ही रामबाण निशाचरोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर मारेंगे। जैसे मेंढक कुछ कर नहीं सकते, वैसे ही निशाचर कुछ कर न सकेंगे। (ग) *'जतन करहु'* अर्थात् यत्न करनेसे बच सकेंगे, युद्ध करनेसे नहीं बच सकेंगे, जैसे मेंढक सर्पसे युद्ध नहीं कर सकता। क्या यत्न करें? यह प्रथम ही बता चुकी हैं कि सीताको लौटा दो। [कवितावलीमें भी कहा है—*'तौ लौं मिलु बेगि नहिं जौं लौं रन रोष भयो, दासरथि बीर बिरुदैत बाँको। तौ लौं मिलु बेगि देहि सीय जौ लौं चाप न चढ़ायो राम, रोषि बान काढ्यो न दलैया दससीसको॥ तुलसी गरब तजि मिलबेको साज सजि न तौ पिय पाइमाल जाहिगो॥'* (६। २१—२३)—यही यत्न है।] (घ) *'जब लगि ग्रसत न तब लगि'* अर्थात् जब युद्धका प्रारम्भ होगा तब यत्न न काम देगा, क्योंकि रामबाण अमोघ हैं, धनुषसे छूटे फिर व्यर्थ नहीं जा सकते। यथा—*'जबहिं समर कोपिहि रघुनायक। छुटिहहिं अति कराल बहु सायक॥ तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा।'* (६। २७; अंगदवाक्य रावणप्रति)

टिप्पणी—३ यहाँतक पूरे दोहेके भावका सिंहावलोकन—निशाचरोंको शंकित सुनकर उनके बचानेके लिये मंदोदरीने विनती की और जो-जो बातें पुरजनोंकी दूतियोंद्वारा सुनी थीं, वही-वही रावणसे कहीं—

पुरवासी	मन्दोदरी
१ उहाँ निसाचर रहहिं ससंका	मंदोदरी अधिक अकुलानी
२ निज निज गृह सब करहिं बिचारा	दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी
३ नहिं निसिचरकुल केर उबारा	तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता'''
४ जासु दूत बल बरनि न जाई	समुझत जासु दूत कै करनी।'''''
५ तेहि आए पुर कवन भलाई	तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥
६ नहिं निसिचरकुल केर उबारा	दोहा ३६ में निसिचरनिकरका उबार माँगा

प० प० प्र०—अशोकवाटिकामें मन्दोदरीके कहनेसे रावणने सीतावध करनेका प्रयत्न छोड़ दिया। इससे

उसे आशा है कि वह मेरी बात मानेगा। यही समझकर उसने चार बार समझानेका प्रयत्न किया है। प्रथम बार (यहाँ प्रेम-शृंगार-रसके सामर्थ्यपर ही रावणको मनानेका प्रयत्न किया है, यह बात *'कंत'* सम्बोधनसे सूचित होती है। दूसरी बार *'सुनहु बचन पिय परिहरि क्रोधा'* से उपक्रम है जिसमें शृंगार और वीररसोंका मिश्रण है। तीसरी बार *'सजलनयन कह जुग कर जोरी। सुनहु प्रानपति········॥'* (६। १४। ७) में करुणरसका आश्रय लिया है। चौथी बार ६। ३६। १ में वीर, हास्य, भयानक, रौद्र और अद्भुत रसोंका आश्रय लिया है, क्रोध सर्वत्र व्याप्त है।

श्रवन सुनी सठ ताकर बानी। बिहँसा जगत बिदित अभिमानी*॥ १॥

अर्थ—सठ और जगत्प्रसिद्ध अभिमानी रावण उसकी वाणी कानोंसे सुनकर खूब हँसा। (और बोला—)॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) मन्दोदरीने विनती की थी कि सुनो, यथा—*'सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हें'*; अतः *'श्रवण सुनि'* कहा। मन्दोदरीके आदरके लिये वाणी सुनी पर मानी नहीं। वाणी निष्फल हुई, जैसे ऊसरमें पड़नेसे बीज निष्फल जाता है। इसी भावको दरसानेके लिये वक्ताओंने *'सठ'* विशेषण दिया। यथा—*'सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती·····ऊसर बीज बयें फल जथा।'* (५। ५८) (ख) मन्दोदरीने श्रीरामजीकी बड़ाई की है; अतः उसने हँसकर निरादर किया, क्योंकि अभिमानी है। अभिमानी अपने बलके आगे किसीको कुछ गिनता ही नहीं—यह बात उसके अगले वचनोंसे स्पष्ट है। [पुनः, हँसकर उत्तर दिया जिसमें बात न माननेसे उसके चित्तमें ग्लानि न हो। अथवा, यह समझकर हँसा कि मेरे समीप रहकर भी यह मेरा प्रभाव नहीं जानती। (मा० त० सु०) अथवा, मेरा पराक्रम जानकर भी डरती है और मुझे सिखाती है] *'जगत बिदित अभिमानी'*, यथा—*'रनमदमत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा॥'* इसीसे जगत्भर जानता है और इसीसे यह हँसा कि मेरे समान त्रैलोक्यमें कोई योद्धा नहीं है और यह मुझे नर-वानरका भय दिखाती है।

श्रीलमगोड़ाजी—हास्यकलामें अभिमानकी हँसीका आनन्द लीजिये। पाश्चात्यशिक्षा पाये हुए सज्जन (Sardonic Laughter) का आभास देखें।

सभय सुभाउ† नारि करि साँचा। मंगल महुँ भय मन अति काँचा॥ २॥
जौं आवै मर्कट कटकाई। जियहिं बिचारे निसिचर खाई‡॥ ३॥

अर्थ—सत्य ही स्त्रियोंका स्वभाव डरपोक होता है। मङ्गलमें भी भय! बड़ा ही कच्चा मन है। वा, उनको मङ्गलमें भी भय लगता है (क्योंकि उनका) मन अत्यन्त कच्चा होता है॥ २॥ यदि बंदरोंकी सेना आवेगी तो बिचारे निशाचर उन्हें खाकर जियेंगे॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'सभय सुभाउ नारि कर साँचा'* इति। (क) स्त्रियोंके आठ अवगुण कहे हैं। उनमेंसे 'सभय होना' भी एक है। यथा—*'साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥'* (६। १६) तात्पर्य कि जहाँ भय नहीं है, वहाँ भी यह भय करती हैं, यथा—*'नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥'* (ख) *'साँचा'* अर्थात् जो नीतिमें कहा है वह सत्य है; प्रत्यक्ष देखनेमें आ गया कि जिस (मन्दोदरी) को किसीका भय नहीं वह भी डर रही है, यह नारिस्वभाव है। यथा—*'कंपहिं लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हाँसा॥'* (ग)—स्वभावसे ही भयभीत हुई; इसीसे मनको 'कच्चा' कहा। और, मङ्गल-समयमें भय किया; इससे 'अति कच्चा' कहा। मङ्गल यह कि कोई भारी शत्रु नहीं है। नर-वानर हैं, जो हमारे भक्ष्य हैं—*'नर कपि भालु अहार हमारा'* (६। ८)। पुनः, शत्रुको देखकर भय होनेसे 'कच्चा' और भक्ष्यको देखकर भय हुआ, इसीसे 'अति कच्चा' कहा। भक्ष्यकी प्राप्ति

* तामरस और पायकुलक क्रमसे। (ब्र० चं०)

† सुभाव—(ना० प्र०)।

‡ क्रमसे नयमालिनी, पायकुलक, मत्ता और कुसुमविचित्रा छन्द हैं।

मङ्गल है, यही आगे कहते हैं—*'जो आवै·······'।* 'युद्धकी प्राप्ति मङ्गल है' यह अर्थ जो करते हैं, वह ठीक नहीं; क्योंकि रावण युद्धका नाम नहीं लेता। वह भोजनकी प्राप्ति कह रहा है तब युद्ध करना मङ्गल कैसे कहें? यहाँ 'प्रथम विषम अलङ्कार' है [मङ्गलमें भी भयभीत, यह कहकर स्त्रियोंकी विचारहीनता दिखायी। बिना उपायके भोजन मिलना मङ्गल है, यथा—*'कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्ह बिधि एकहि बारा॥'* (४। २७), *'गृह बैठे अहार बिधि दीन्हा'* (६। ३९)। (मा० त० सु०) अथवा शूरवीरके लिये युद्ध भी मङ्गल है। अथवा परमसुन्दरी सीताजीकी प्राप्ति मङ्गल है उसीको वह लौटानेको कहती है इससे ऐसा कहा। (ब्रह्मचारी)]

टिप्पणी—२ (क) *'जौं आवै'* से उनके आनेमें सन्देह जनाया। अर्थात् वे भयसे न आवेंगे और यदि आ गये तो जान लो कि उनका काल ही प्रेरणा करके यहाँ ले आया है। मंदोदरीने जो कहा था कि *'रामबान अहिगन·······।'* (३६), उसीका यह उत्तर है कि राक्षस तो खानेके लिये उनकी राह देख रहे हैं कि कब आवें और हम भक्षण कर लें। (ख) *'मर्कट कटकाई'* अर्थात् बहुत आहारका नाम लेकर जनाया कि निशाचर बहुत भूखे हैं; एक-दोसे काम न चलता। वानरसेना बहुत आहार है जिसे पाकर राक्षस जी सकेंगे। श्रीराम-लक्ष्मण दो ही हैं, ये एक ही निशाचरको पूरे न पड़ेंगे; इसीसे उनका नाम न लिया। (ग) बिचारे=गरीब, भूखके मारे दीन। अर्थात् बहुत क्षुधावन्त, तथा—*'आये कीस कालके प्रेरे। छुधावंत सब निसिचर मेरे॥'* (६। ३९) और भी यथा—*'भालु नर बानर अहार निसिचरनि को सोऊ नृपबालकनि माँगी धारि लही है। देखो कालकौतुक पिपीलिकनि पंख लागो भाग मेरे लोगनि के भी चित चही है।'* (गी० सुं० २४) 'बिचारे' में यह भी भाव है कि गरीब निशाचर जो भरपेट मांस न पाते थे वे भी भरपेट पाकर प्रसन्न होंगे। (घ) *'जियहिं बिचारे निसिचर खाई'* कहकर अपनी सेनाका बल जनाया और आगे अपना बल कहता है—*'कंपहि लोकप जाकी त्रासा।'* (ङ) मंदोदरीने रावण और उसकी सेना दोनोंको निर्बल कहा था—*'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें।'*, और *'·········निकर निसाचर भेक।'* इसीसे रावणने दोनोंका बल कहा।

कंपहिं लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥४॥
अस कहि बिहँसि ताहि उर लाई। चलेउ सभा ममता अधिकाई॥५॥*

अर्थ—जिसके डरसे लोकपाल भी काँपते हैं उसकी स्त्री भयभीत हो, यह बड़ी हँसीकी बात है॥ ४॥ ऐसा कहकर खूब हँसकर रावणने उसे छातीसे लगाकर और अधिक ममत्व (प्रेम) दिखाकर एवं बड़े अभिमानसे वह सभाको चला॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'कंपहिं लोकप·······'* इति। (क) यह *'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें'* का उत्तर है, अर्थात् तू हमें मनुष्यका भय दिखाती है और मेरे भयसे तो लोकपालतक काँपते हैं, यथा—*'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता'* (५। २०)—(इस तरह अपनी प्रभुता कहकर मन्दोदरीके भयको निवारण करना चाहता है; यथा—*'कहै लाग खल निज प्रभुताई। सुनु तैं प्रिया बृथा भय माना। जग जोधा को मोहिं समाना॥ बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला॥ देव दनुज नर सब बस मोरें। कवन हेतु उपजा भय तोरें॥'* (६। ८) अर्थात् भयका कोई कारण नहीं है, भय छोड़ो। यहाँ 'दूसरा विषम अलङ्कार' है। (ख) *'तासु नारि सभीत'* अर्थात् और साधारण किसी व्यक्तिकी स्त्री सभीत हो (कि हमारा पति मारा न जाय) तो कोई चाहे न हँसे, पर लोकपाल जिससे डरें उसकी स्त्री नर-वानरसे डरे, इसमें बड़ी हँसी है। इस बातपर हँसकर हृदयसे लगा लिया। (नोट—किसी निशाचरकी स्त्री वानरसे डरे तो 'हँसी' की बात है और रावणकी रानी डरे यह 'बड़ी हँसी' की बात है।)

नोट—१ इसकी जोड़का श्लोक हनुमन्नाटकमें यह है—**'रावणः (निजभुजाडम्बरं नाट्यति) किं ते**

* (४) और 'अस कहि·······।' पायकुलक, 'चलेउ·········' तामरस (ब्र० चं०)।

भीरु भिया निशाचरपतेर्नासौ रिपुर्मे महान् यस्याग्रे समरोद्यतस्य न सुरास्तिष्ठन्ति शक्रादयः। मद्दोर्दण्डकमण्डलोद्धृतधनुः शिक्षाः क्षणान्मार्गणाः प्राणानस्य तपस्विनः सति रणे नेष्यन्ति पश्याधुना॥' (९। ६) अर्थात् रावण अपने भुजाओंके बलका नाट्य करता हुआ कहता है—'हे भीरु प्रिये! तू क्यों डरती है। मुझ निशाचरराजके लिये यह शत्रु कोई बड़ा शत्रु नहीं है। जब मैं समरके लिये उद्यत होता हूँ तब इन्द्रादि देवता भी मेरे सम्मुख खड़े नहीं रह सकते। रणभूमिमें मेरे भुजदण्डोंके समूहसे उठाये हुए धनुषसे निकले हुए बाण उस तपस्वीके प्राण एक क्षणमें हर लेंगे। यह तू निश्चय ही देखेगी।'—यह श्लोक इस अर्धालीकी व्याख्या समझिये। जहाँ डरकी किंचित् बात नहीं वहाँ डरना 'बड़ी हँसी' की बात है। लोग क्या कहेंगे?

वि० त्रि०—*'तासु नारि सभीत बड़ि हाँसा'* कहनेके बाद स्वयं भी हँसे। नहीं तो हास्य सिद्ध कैसे हो। मन्दोदरी भयभीत हो गयी थी, अतः उसे आश्वासन देनेके लिये हृदयसे लगा लिया। रावण पण्डित तो थे, पर पोथीके ही पण्डित थे, हृदय उनका अहंता-ममतासे पूर्ण था। कालनेमिने उनकी ऐसी मानसस्थितिकी निन्दा भी स्वयं उनसे की, यथा—*'मैं तैं मोर मूढ़ता त्यागू। महामोह निसि सूतत जागू॥'* (६। ५५। ७) पर ये महात्मा उपदेश करनेवालेपर क्रोध करते थे। सो ममता तो इन्हें स्वाभाविक थी, स्त्रीको हृदयसे लगानेसे और बढ़ गयी, यथा—*'पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥'* ऐसी ही अवस्थामें सभामें पधारे, विभीषणका त्याग भी इसी अवस्थामें हुआ।

टिप्पणी—२ *'अस कहि बिहँसि ताहि उर लाई।'* (क) यहाँ दुबारा हँसा। प्रथम भी हँसा था—*'बिहँसा जगतबिदित अभिमानी।'* दो बार (आदि और अन्तमें) हँसनेका भाव यह कि मन्दोदरीकी बात उसने हँसीमें उड़ा दी। (ख) हँसकर हृदयमें लगाया—उसकी खातिरीके लिये ऐसा किया जिसमें उसके वचनके निरादरसे उसको कष्ट न हो। पुनः मंदोदरी पतिके पाँव लगी थी—*'रहसि जोरि कर पति पद लागी।'* रावणने उसके बदलेमें उसको हृदयमें लगा लिया। *'पति पद लागी'* यह मन्दोदरीकी भक्ति है और *'ताहि उर लाई'* यह रावणका प्रेम है। (ग) *'ममता अधिकाई'* इस पदसे जनाया कि मंदोदरीका ज्ञान-कथन व्यर्थ गया। ममतामें रत मनुष्यसे ज्ञानकथन करनेका यही फल होता है। यथा—*'ममता रत सन ग्यान कहानी। ....ऊसर बीजु बएँ फल जथा।'* (५८। ३-४) पुनः भाव कि ममता तरुण अन्धकारसे पूर्ण अमावस्याकी रात्रिके समान है, उसमें सत्-असत्का ज्ञान नहीं रहता। ममतामें राग और द्वेषका ही विलास देखनेमें आता है, जैसे रात्रिमें उलूकको ही सुख होता है। यथा—*'ममता तरुन तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी॥ तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥'* (४७। ३-४; विभीषणवाक्य श्रीरामप्रति।) श्रीरामजीके प्रतापका ज्ञान न होनेसे ही उसे ममता है, जिसमें उसे सत्-असत्का ज्ञान नहीं हो पाता, उसे कुछ सूझता नहीं, उसे तो राग-द्वेष ही सूझता है। इसीसे उसने स्त्रीसे राग किया और श्रीरामजीसे द्वेष कर रहा है।

नोट—२ मन्दोदरी रावणको अत्यन्त प्रिय है। उसकी बात टालना भी है और साथ ही अपनी हठ भी रखना है, ऐसे अवसरोंपर स्त्रैण पुरुष जैसा स्वाभाविक करते हैं वही रावणने किया कि उसको बड़े प्रेमसे हृदयसे लगाया और हँसते हुए सभामें चला गया; अन्यत्र जाता तो सम्भव था कि वह भी साथ चल देती।

टिप्पणी—३ मंदोदरीने श्रीरामजीका प्रताप कहा, पर रावणके हृदयमें वह न लगा; क्योंकि ममता आदि *'तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥'* स्त्री-पुत्रादिमें स्नेह करना ममता है। स्त्रीको हृदयसे लगाया, इसीसे ममता अधिक बढ़ी; यथा—*'पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥'* (३। ४)

नोट—३ 'ममता' के अर्थ हैं—स्नेह, मोह और अभिमान (अहंता)। वे तीनों अर्थ यहाँ घटित होते हैं। स्त्रीपर अधिक स्नेह दिखाकर उसका बड़ा प्यार करके चला। वानरोंकी सेना है और राम-लक्ष्मण मनुष्य हैं; इनसे क्या डरना। यह मोह बढ़ा। और, मेरे सामने लोकपाल तो खड़े ही नहीं हो सकते, मेरे अनुचरके सामने खड़ा होनेवाला तो कोई देवता भी नहीं है, नर-वानर किस गिनतीमें हैं? यह अभिमान

भी बढ़ाये हुए सभामें गया। मा० त० सु० कार लिखते हैं कि ममता अपने हठपर और मन्दोदरीपर अधिक थी, इसीसे तुरंत चल दिया।

श्रीलमगोड़ाजी—(क) देखा, कविकी हास्यकलाकी निपुणता! कि रावणद्वारा हँसीमें उड़ायी हुई बातका कितना सुन्दर विस्तारसे वर्णन किया है, मानो उसके हृदयका फोटो ही सामने धर दिया है जिसमें अभिमान, चतुराई और ममता सभीका विवेचन है। इसीसे मैंने पूर्व कहा कि अभी Sardonic Laughter (अर्थात्) शैतानी हँसीका आभास है। कविकी यह सुकुमारता ही सराहनीय है। (ख) ☞ नाटकीय कलासे अनभिज्ञ लोग ऐसे नारिके निरादरसूचक शब्दोंको कविके सिर मढ़कर उसका निरादर करते हैं। यह ठीक नहीं है। देश, काल और पात्रका विचार कर लेना चाहिये। (ग) 'नसीम' के प्रशंसक 'विचारे' के 'बिना चारे (भोजन) वाले' शब्द संकेतकी सराहना अवश्य करेंगे।

मंदोदरी हृदय कर चिंता। भएउ कंत पर बिधि बिपरीता॥ ६॥

अर्थ—मन्दोदरी हृदयमें चिन्ता करने लगी कि पतिपर विधाता प्रतिकूल हो गये हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ तात्पर्य यह कि अब अपनी चिन्ता किससे कहे। जिससे कहना था उससे कह चुकी और उसने न माना। तब यह निश्चय किया कि विधाता उसके विपरीत हैं, अब वह न बचेगा; अतएव उसे अपने अहिवातकी चिन्ता हुई। यथा—*'अस कहि नयन नीर भरि गहि पद कंपित गात। नाथ भजहु रघुनाथहि अचल होइ अहिवात॥'* (लं० ७), *'अस बिचारि सुनु प्रानपति प्रभु सन बैरु बिहाइ। प्रीति करहु रघुबीरपद मम अहिवात न जाइ॥'* (६। १५)

टिप्पणी—२ निशाचरोंका भावी विनाश सुनकर प्रथम मन्दोदरी व्याकुल हुई और उनके बचनेका उद्योग किया, पतिसे प्रार्थना की। पर वह उद्योग नष्ट हुआ। तब वह चिन्ता करने लगी। प्रथम निशाचरोंके बचनेकी चिन्ता थी, अब पतिके बचनेकी चिन्ता हुई। यह चिन्ता क्यों हुई कि विधाता विपरीत है? रावणके अभिमानयुक्त वचनोंसे उसने जान लिया कि रावण कालके वश है, यथा—*'काल बिबस मन उपज न बोधा।'* (६। ३६) पहले भलाई होनेका उपाय कहा—*'पठवहु कंत जो चहहु भलाई।'* जब उपदेश न माना तब भलाईसे निराश हुई—*'बिधि बिपरीत भलाई नाहीं।'* (१। ५२)

बैठेउ सभा खबरि असि पाई। सिंधु पार सेना सब आई॥ ७॥
बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू॥ ८॥
जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं*॥ ९॥

अर्थ—सभामें (जाकर) बैठा तब यह खबर पायी कि समस्त वानरी सेना समुद्रके उस पार आयी है॥ ७॥ उसने मन्त्रियोंसे पूछा कि जो मत (सलाह) उचित हो वह कहो तब वे सब हँसे कि चुप होकर बैठे रहिये॥ ८॥ आपने जब सुर और असुरको जीता तब तो कुछ श्रम हुआ ही नहीं, फिर नर और वानर किस गिनतीमें हैं॥ ९॥

टिप्पणी—१ *'बैठेउ सभा खबरि असि पाई……'* इति। (क) बिना मौकेके बात न कहनी चाहिये, इससे महल आदिमें खबर न दी। राजसभा ऐसी खबर देनेका उचित स्थान है। हरकारों या दूतोंने खबर दी। (ख) बैठते ही और राजकाज कुछ न सुनाया गया, यही समाचार दिया गया। इससे ज्ञात होता है कि जबसे हनुमान्‌जी लंका जलाकर गये तबसे कचहरीका और सब काम बन्द है, सब जासूसीमें ही लगे हैं। (ग) 'पार'=दूसरे तटपर, उस पार। *'पार'* दोनों तट कहलाते हैं। प्रत्येक तटके लोग दूसरे तटको *'पार'* कहते हैं। यदि *'पार'* शब्द न देते तो संदेह होता कि लङ्कावाले तटपर तो नहीं आ गयी। *'सेना'* की अनन्तता और बल नहीं कहा; क्योंकि इनके कहनेवालेपर रावण कोप करता है।'

* ब्र० चं०—(६) (७), 'ते०' (९) पायकुलक, 'बूझेसि' चक्र हैं।

टिप्पणी—२ '*बूझेसि सचिव*……' इति। (क) उचित कहो अर्थात् अनुचित न कहो। उसका उचितसे तात्पर्य है कि 'सीताको दे दीजिये, शत्रुसे मेल कर लो' यह अनुचित है, इसे न कहना; किंतु कहो कि शत्रुसे युद्ध करो, युद्ध किस प्रकार किया जाय, यह कहो, इत्यादि उचित मत है। यथा—'*सभा आइ मन्त्रिन्ह तेहि बूझा। करब कवन बिधि रिपु सें जूझा॥*' (६। ८) यह सम्मत कहो कि उस पार चलकर लड़ें या उन्हें उतर आने दें। यथा—'**अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ॥**……**भवद्भिर्मन्त्र्यतां मन्त्रः सुनीतिश्चाभिधीयताम्॥**' (वाल्मी० ६। १२। २५-२६) अर्थात् जिसमें सीताको न देना पड़े और दोनों पुत्र दशरथके मारे जायँ, ऐसी सुन्दर नीतियुक्त राय तुमलोग कहो। (ख)—'*ते सब हँसे*' अर्थात् यह बात हँसीकी है। चुप हो रहो। ऐसी बात न कहो। जो सुनेगा वही हँसेगा कि त्रैलोक्यविजयी होकर नर-वानरसे युद्ध करनेमें उपाय पूछता है। रावणके प्रश्नपर सब हँसे और उसे चुप कर दिया, जैसे रावणने हँसकर मन्दोदरीको चुप किया था कि '*तासु नारि सभीत बड़ि हासा।*' तात्पर्य कि जो अच्छे लोगोंकी वाणीको हँसते हैं, उनकी भी वाणीको लोग हँसते हैं। मन्त्रियोंकी वाणी सुनकर रावण प्रसन्न हुआ कि जो बात हमने मन्दोदरीसे कही, यथा—'*जो आवै मर्कट*……', वही सम्मत इनका है। रावणने कहा कि 'उचित मत' कहो; इसीपर मन्त्री हँसे कि हमें उचित कहनेको कहते हो और तुम अनुचित पूछते हो—नर-वानरोंकी लड़ाईके लिये सम्मति न पूछनी चाहिये थी।

नोट—१ 'मष्ट करना'=चुप रहना। यथा—'*मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं*'—(१। २७८)। '*ते सब हँसे*……*लेखे माहीं*' इति। यथा—'**स्वैरं कुर्वन्तु कार्याणि भवन्तो विगतज्वराः। एकोऽहं भक्षयिष्यामि तान्सर्वान्हरियूथपान्॥ स्वस्थाः क्रीडन्तु निश्चिन्ताः पिबन्तो मधु वारुणीम्।**' (वाल्मी० ६। ८। २३-२४), अर्थात् आप इस बातकी चिन्ता न कर अपने-अपने कामोंमें लगिये। मैं अकेला ही सब वानरयूथपतियोंको खा डालूँगा। आप सब लोग सावधान और निश्चिन्त होकर खेलिये-कूदिये तथा वारुणी और मधुपान कीजिये। —इनमें तथा वाल्मी० ६। ७। २६। में जो कहा गया है वह सब '*ते सब हँसे मष्ट करि रहहू।*' इत्यादिमें कविने कह दिया है।

नोट—२ '**किं करिष्यामि भद्रं वः किं वा युक्तमनन्तरम्।**……**उच्यतां नः समर्थं यत्कृतं च सुकृतं भवेत्॥**' '……**कार्यं सम्प्रतिपद्यन्तामेतत्कृत्यं मतं मम॥**' (वाल्मी० ६। ६। ४-५, १६) अर्थात् सिन्धुपार सेना आ जानेकी खबर पाकर रावणने मन्त्रियोंसे पूछा कि क्या करना उचित है? वह उपाय बताओ जिससे भला हो और जो हम कर सकें। आप सब एकमत होकर कर्तव्य निश्चित करें, वही हम करें। ☞ रावणका इस सम्बन्धमें यह प्रथम दरबार है। इस दरबारमें वही बात कही है जो मानसमें है—'*उचित मत कहहू*' और उत्तर भी दोनोंमें एक-सा है। सर्ग ७ श्लोक ४ से १९ तकमें '*ते सब हँसे*……*माहीं*' की ही व्याख्या समझिये। '**तिष्ठ वा किं महाराज श्रमेण तव**……॥' (१९) (हे महाराज! आप बैठे भर रहें। आप किञ्चित् भी श्रम न करें।) यही '*मष्ट करि रहहू*' में भाव है, आप चुपके बैठें, हममेंसे कोई भी जाकर वानरोंको खा डालेगा। '*जितेहु सुरासुर*……'—भोगवतीके नागों, यक्षोंसहित कुबेर जो शिवजीके मित्र हैं, पूर्वमें अमरत्वका वर पाये हुए दानवों, मधुदैत्य, समस्त लोकपालों, वीरक्षत्रियों इत्यादिको जीता। मयने डरकर कन्या ब्याह दी। यह कहकर अन्तमें जो कहा है कि—राजन्! आप नर-वानररूप नगण्य लोगोंसे जो विपद्की शङ्का कर रहे हैं सो इसकी चिन्ता तो करनी ही न चाहिये। आप निश्चय 'राम' को मारेंगे।—यही '*नर बानर केहि लेखे माहीं*' है। यथा—'**राजन्नापद्युक्तेयमागता प्राकृताज्जनात्। हृदि नैव त्वया कार्या त्वं वधिष्यसि राघवम्॥**' (वाल्मी० ६। ७। २५) इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि रावणके अन्तःकरणमें जो भी रहा हो, पर उसने मन्त्रियोंसे उचित सलाह देनेको कहा और यहाँतक कहा कि तुम जो कुछ एक मत होकर कहोगे वही मैं करूँगा। यह मन्त्रियोंका अपराध है कि उन्होंने उचित सलाह न दी, यह समझकर कि वह हम लोगोंको कायर न समझे इत्यादि। इसीपर तो ग्रन्थकार आगे दोहेमें अपनी टिप्पणी करते हैं—'*सचिव बैद*……।' टिप्पणी २ (क) मेंका उद्धृत श्लोक दूसरी बारके दरबारमें कहा गया है।

लमगोड़ाजी—हास्यरसकी कलामें *'मष्ट करि रहहू'* की बेतकल्लुफी इतनी सुन्दर है कि सराहते नहीं बनती, मानो मन्त्रियोंसे याराना (घनिष्ठ मित्रता) है। पर कविकी सुकुमार विवेचनाकी कहाँतक प्रशंसा की जाय, जब हम देखते हैं कि इसकी आड़में जो भय है उसे कविने ताड़ लिया है, जैसा नीचेवाले दोहेसे विदित है।

नोट—३ यहाँ 'काव्यार्थापत्ति अलङ्कार' है।

टिप्पणी—३ *'जितेहु सुरासुर·······'* इति। (क) अर्थात् जो सुर और असुर लेखेमें थे अर्थात् कुछ गिने जाते थे, उन्हें तो तुमने जीत लिया, नर-वानर किसी लेखेमें नहीं हैं, इनके लिये क्या पूछना? ये तो हमारे आहार ही हैं, आये और हमने खाया। यही बात आगे लङ्काकाण्डमें फिर कहेंगे। (ख) सुरसे स्वर्गलोकका और असुरसे पाताललोकका जीतना कहा, रहे मर्त्यलोकके 'नर-वानर' सो किसी लेखेमें नहीं हैं। (ग) सुरासुरके जीतनेमें श्रम नहीं हुआ, यथा—***'देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गये पराई'***, ***'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥'*** (१। १८२), ***'एक बार कुबेर पर धावा। पुष्पक जान जीति लेइ आवा॥'*** (१। १७९) और ***'दिगपालन्हके लोक सुहाए। सूने सकल दसानन पाए॥'*** (१। १८२)

दो०—सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास*॥ ३७॥
सोइ रावन कहुँ बनी सहाई। अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई॥ १॥

अर्थ—मन्त्री, वैद्य और गुरु, यदि ये तीन भय या आशासे प्रिय बोलते हैं तो क्रमशः राज्य, शरीर और धर्म इन तीनोंका शीघ्र ही नाश हो जाता है॥ ३७॥ वही बात रावणको सहायक हुई। सब सुना-सुनाकर स्तुति करते हैं॥ १॥

नोट—१ *'सचिव बैद गुर·····नास'* इति। जोड़का श्लोक यह है, यथा हितोपदेशे—**'वैद्यो गुरुश्च मन्त्री च यस्य राज्ञः प्रियंवदः। शरीरधर्मकोषेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते॥'** अर्थात् जिस राजके वैद्य, गुरु और मन्त्री प्रियवादी हों वह शीघ्र शरीर, धर्म और कोषसे रहित हो जाता है। भाव यह कि वैद्य भयसे या रोगीको प्रसन्न करनेके लिये कुपथ्य माँगनेपर कुपथ्य दे दे तो रोगी मर जायगा। गुरु लोभके वश शिष्यको अधर्मसे न रोके, यथार्थ उपदेश सन्मार्गका न दे तो दोनोंका धर्म नष्ट हो, यथा ***'लोभी गुरू लालची चेला। घोर नरक महँ ठेलमठेला॥'*** मन्त्री राजनीति न सिखावे वरन् उसकी हाँ-में-हाँ मिलावे, उसका रुख देखकर ठकुरसोहाती कहे तो राज्यका नाश होता है।

टिप्पणी—१ (क) *'राज धर्म तन तीनि कर·······'* इति। राज्यसे यह लोक, धर्मसे परलोक और तनसे लोक और परलोक दोनोंका साधनेवाला—इन तीनका विनाश सूचित किया; यथा—***'संग ते जती कुमन्त्र ते राजा। मान ते ज्ञान पान ते लाजा॥ प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति असि सुनी॥'*** (३। २१) जो यहाँ दोहेमें कहा है ***'होइ बेगहीं नास'*** वही इन चौपाइयोंमें कहा है—***'नासहिं बेगि।'*** यहाँ दोहेसे यथासंख्य नहीं है। अर्थ करनेमें क्रमसे अर्थ समझ लें—**'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्।'** (यहाँ भंगक्रम यथासंख्य अलङ्कार है) (ख) परंतु दोहावलीमें यही दोहा यों लिखा है—***'मंत्री गुरु अरु बैद जौं प्रिय बोलहिं भय आस। राज धर्म तन तीनिकर होइ बेगिही नास॥'*** (५२४) इससे प्रश्न होता है कि यहाँ लोगोंने पाठ अशुद्ध कर दिया है या इस क्रमभंगमें भी कुछ भाव है? इसका उत्तर यह है कि यह पाठ शुद्ध है। और समझ-बूझकर रखा गया है। यहाँ विपरीत कथनद्वारा जनाते हैं कि सचिव, वैद्य और गुरु तीनों रावणपर विपरीत हैं—मन्त्री सुना-सुनाकर स्तुति करते हैं। यह आगे कवि स्वयं यहीं लिखते हैं। वैद्य सुषेण जन्मभर लङ्कामें सुख भोगता रहा, उसीने लक्ष्मणजीके लिये सञ्जीवनी बतायी, राक्षसोंके

* यह पयोधर दोहा है। (ब्र० चं०)

जिलानेके लिये सञ्जीवनी न मँगा रखी। गुरु महादेवजी प्रतिदिन पुजाने आते थे। उन्होंने रावणको श्रीरामजीके वैरसे और अधर्म करनेसे न रोका, यथा—*'बेद पढ़ें बिधि संभु सभीत पुजावन रावन सों नित आवैं'*—(क० उ० २), *'संभु सेवक जान जग, बहु बार दियेउ दससीस। करत राम बिरोध सो सपनेहु न हटकेउ ईस'*—(विनय० २१६)। भाव कि भगवद्‌विमुख होनेसे सभी विमुख हो जाते हैं। इसीसे कविने क्रमभङ्ग करके वैषम्यको दिखाया है।

टिप्पणी—२ (क) *'सोइ रावन कहुँ बनी सहाई।'* 'सहाय' बननेका भाव कि रावण आप ही सब नष्ट कर रहा है, उसमें ये भी सहाय हो गये। विनाशके उपायको इन्होंने पुष्ट किया। कुमन्त्रसे राजाका शीघ्र नाश होता है, अतएव कुमन्त्र देकर मन्त्री विनाशमें सहाय हुए—*'ते सब हँसे मष्ट करि रहहू। जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं॥......'* इत्यादि कुमन्त्र हैं। (ख)—*'सुनाइ'* अर्थात् मुँहपर स्तुति करते हैं, पीछे नहीं। पीछे तो यही कहते हैं कि *'जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आए पुर कवन भलाई'*, *'नहिं निसिचर कुल केर उबारा'* इत्यादि।

'विभीषण-शरणागति-प्रसंग'

अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राता चरन सीस तेहिं नावा॥ २॥
पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन। बोला बचन पाइ अनुसासन॥ ३॥
जौं कृपाल पूँछेहु मोहि बाता। मति अनुरूप कहौं हित ताता*॥ ४॥

अर्थ—अच्छा मौका जानकर विभीषणजी आये और भाईके चरणोंमें उन्होंने मस्तक नवाया॥ २॥ फिर सिर नीचा करके (वा, सिर नवाकर) वे अपने आसनपर बैठे और रावणकी आज्ञा पाकर वचन बोले॥ ३॥ कृपालो! यदि आप मुझसे बात पूछते हैं तो, हे तात! मैं अपनी बुद्धिके अनुसार आपके हितकी बात कहता हूँ॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'अवसर जानि'* अर्थात् उचित मन्त्र (शरणागतिके उपदेश) देनेके लिये अच्छा अवसर समझकर। आगे इसे स्पष्ट कहते हैं—*'मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन कहि पठई यह बात। तुरत सो मैं प्रभु सन कही पाइ सुअवसर तात॥ ३९॥'* अथवा अवसर यह कि अब सब मन्त्री अपना-अपना मन्त्र कह चुके, अब चलना उचित है, क्योंकि बीचमें जानेसे उनके मतोंका खण्डन करना पड़ता और यह बात रावणको अच्छी न लगती। देखिये— प्रहस्तने खण्डन किया है, यथा—*'सब के बचन श्रवन सुनि कह प्रहस्त कर जोरि। नीति बिरोध न करिय प्रभु मंत्रिन्ह मति अति थोरि॥'* (६। ८), *'कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती। नाथ न पूर आव एहि भाँती॥'* तब रावणने क्रुद्ध होकर *'सुत सन कह दसकंठ रिसाई। असि मति सठ केहिं तोहि सिखाई॥'* अथवा, अपने आनेका समय जानकर आये।

नोट—१ अवसर देखकर बुद्धिमान् लोग काम करते हैं। प्रमाण, यथा—*'समय जानि गुर आयेसु पाई। लेन प्रसून चले.......'॥* (१। २२७), *'सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना॥'* (१। १९०), *'सीयमातु तेहि समय पठाई। दासी देखि सुअवसरु आई॥'* (अ० २८१), *'राजकुअर तेहि अवसर आए'* (बा० २४१), *'देखि सुअवसर प्रभु पहिं आयहु संभु सुजान'* (६। ११३), *'अवसर जानि सप्त रिषि आए'* (१। ८९), इत्यादि। इसका कारण दोहावली दो० ३४४, ४४८ में यह दिया है कि *'अवसर कौड़ी जो चुकै बहुरि दिए का लाख। दुइज न चन्दा देखिए उदौ कहा भरि पाख॥'*, *'समरथ कोउ न राम सों तीयहरन अपराधु। समयहि साधे काज सब समय सराहहिं साधु॥'* इस समय बड़ा सुन्दर अवसर है कि रावणने सबसे सलाह पूछी है कि 'उचित मत' कहो और सबोंने अनुचित कहा है, अभी

* ब्र० चं०—'अवसर.........' तामरस, 'भ्राता.........' 'पायकुलक, 'पुनि.........' ११७८ वाँ भेद, 'बोला.........' ११८२ वाँ भेद, 'जौं.........' पायकुलक, 'मति.........' तामरस है।

कहनेसे सम्भव है कि मेरा उचित मत उसको हृदयमें जँच जाय और वह मान ले। दूसरे अभी-अभी पुलस्त्यजी, अपने पितामहका सन्देश रावणसे कहनेको मिला वह लेकर तुरत अवसर जानकर आये हैं, यही कहनेका अवसर है, क्योंकि पूछ रहा है। (प्र० सं०) पुनः प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि हनुमत्प्रसङ्गमें भी विभीषणजी सभाका कार्यारम्भ होनेके पश्चात् ही आये हैं। इससे सूचित होता है कि विभीषणजी अन्य सभासदोंके समान रावणके आनेके पूर्वसे ही नहीं आते थे। वे यथासमय आते थे और आवश्यकता न रहनेपर चले जाते थे। *'दुष्ट संग जनि देहि बिधाता'* के अनुसार वे दुर्जनोंकी सङ्गतिसे यावच्छक्य दूर ही रहते थे। वे भजनमें ही लगे रहते थे। ☞वे अपने आचरणसे उपदेश देते हैं कि विषयी लोगोंकी सङ्गतिसे दूर रहना चाहिये।

नोट—२ विभीषणजी अवसर ताककर आये तो अपमान क्यों हुआ? उत्तर—(मा० त० सु०) बुद्धिमान् लोग कार्यका परिणाम देखते हैं, इस समय अपमान हुआ पर भविष्यमें लंकेश हुए। पुनः खलका त्याग उचित है, विभीषणजीने ऐसा न किया, अतः अपनी साधुताका फल अपमान पाया। पुनः अवसरपर जानेसे प्रभुकी शरणागति और भक्तिकी प्राप्ति हुई।

नोट—३ 'भ्राता चरन' का भाव कि और सब लोग राजाके भावसे प्रणाम करते थे और विभीषणजीने अपना बड़ा भाई, पिताके समान मानकर प्रणाम किया। यह भाव आगे इनके वचनोंसे स्पष्ट है—*'तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा।'* (पं० रामकुमारजी)

टिप्पणी—२ (क) *'निज आसन'* से जनाया कि कायदेसे सबके बैठक वा आसन बने हुए हैं। (ख) रावणकी सभामें विभीषणजीद्वारा बुद्धिमानी, धर्म और कायदा देख पड़ता है—अवसरसे आये, भ्राताके चरणोंमें सिर नवाया, पुनः सिर नवाकर बैठे और आज्ञा पाकर बोले। और, मन्त्रियोंके द्वारा अधर्म और मूर्खता देख पड़ती है—राजाके वचन सुनकर सब हँसने लगे, सुना-सुनाकर स्तुति करते हैं। (ग) *'पाइ अनुसासन'* से एवं **'जौं कृपाल पूछेहु'** से ज्ञात होता है कि सब मन्त्रियोंके मतसे रावणका समाधान और संतोष न हुआ; इसीसे विभीषणजीके आसनपर बैठते ही उसने इनसे पूछा। क्योंकि यदि समाधान हो गया होता तो क्यों पूछता? [(मा० त० सु०)—१—*'पाइ अनुसासन'* दीपदेहली है। २—सिर नवाकर बैठना शिष्टोंकी रीति है, यथा—*'आसन दीन्ह नाइ सिर बैठे।'* बिना पूछे राय भी न देना चाहिये।]

टिप्पणी—३ **'जौं कृपाल पूछेहु मोहि बाता.......।'** (क) देखिये, जो बात विभीषणजीने कही, वही बात शुकने कही है। यथा—*'नाथ कृपा करि पूँछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे॥'* (५। ५४); पर जो कोमलता विभीषणजीकी वाणीमें है वह शुककी वाणीमें नहीं है; कारण कि विभीषणजी साधु हैं। दोनोंके वचनोंका अभिप्राय एक ही है। पर भेद इतना ही है कि विभीषणजीके वचनोंके भीतर वह अभिप्राय भरा है, जिसमें ऊपरसे रावणमें दोष न पाया जाय। और शुकके वचनोंसे रावणका क्रोधी और हठी होना शब्दसे ही प्रकट है—उसने कहा था कि *'मानहु कहा क्रोध तजि।'* शुकने क्रोधका त्यागना कहकर प्रथम ही उसे 'क्रोधी' सिद्ध किया और 'मानहु' कहकर 'हठी' जनाया। (ख)—*'जौं कृपाल'* का भाव कि आपने जो कृपा करके पूछा यह मुझको बड़ाई दी, अतएव मैं मतिके अनुरूप कहता हूँ। तात्पर्य यह कि आपको शिक्षा देने योग्य तो मुझमें बुद्धि है नहीं, इसीसे मैं केवल 'हित' कहता हूँ, कुछ आपको उपदेश नहीं देता। उपदेश देनेसे रावण क्रोध करता है, यथा—*'मृत्यु निकट आई खल तोही। लागेसि अधम सिखावन मोही॥'* (५। २४) (यह हनुमान्‌जीसे रावणने कहा है) पुनः, यथा—*'गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा॥'* (३। २६) (यह रावणने मारीचसे कहा है।) *'मति अनुरूप'*—अपनी बुद्धिका अभिमान नहीं है, इसीसे कहते हैं कि *'मति अनुरूप'* अर्थात् जैसी कुछ मेरी बुद्धि है उसके अनुसार कहता हूँ, उपदेश नहीं देता। 'मति अनुरूप कहता हूँ'—बड़े लोगोंमें इस प्रकार कथन करनेकी रीति है, यथा—*'कहउँ सो मति अनुहारि अब.......', 'तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी', 'निज मति सरिस नाथ मैं गावा'* इत्यादि। [*'मति अनुरूप.......'* का भाव कि मन्त्रियोंका कथन उनकी

मतिके अनुरूप नहीं है। उनकी मतिमें तो और ही है, यथा—'*नहिं निसिचर कुल केर उबारा*'; पर कहते आपकी मतिके अनुरूप हैं; अतः उनका मन्त्र हितकारक नहीं है। '.........*कहनि आन बिधि करनि आन बिधि*.....*सुख पाइय कैसे*'—(विनय०)। (मा० त० सु०)]

जो आपन चाहइ कल्याना। सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना॥ ५॥
सो पर नारि लिलारु गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं*॥ ६॥

अर्थ—हे गोसाईं! जो व्यक्ति अपना कल्याण, सुन्दर यश, सुमति, शुभ गति और अनेक प्रकारके सुख चाहे, वह परस्त्रीके ललाटको चौथके चन्द्रमाकी तरह त्याग दे। अर्थात् परस्त्रीका मुख न देखे, उसके देखनेसे कलङ्क लगता है॥ ५-६॥

टिप्पणी—१ '*जो आपन चाहइ*' इति। विभीषणजी औरोंपर ढारकर उनके बहाने रावणको उपदेश दे रहे हैं, जिसमें वह क्रोध न करे और न अनुचित ही माने (पुनः वह बड़ा भाई है और राजा है, अतः सीधे न कहकर अन्यके प्रति उद्देश्य करके कहते हैं, जिसमें वह समझकर अपनेको सुधार ले। यहाँ 'गूढ़ोक्ति अलङ्कार' है)। रावणमें काम, क्रोध, लोभ परोक्ष कहे ('नारिलिलार' से काम, 'भूतद्रोह' से क्रोध और 'अल्पलोभ' से लोभ—इस प्रकार तीनों दोष कहे)। पर वह परोक्षकथनसे न समझेगा। (क्योंकि अभिमानवश है); अतः दोहेमें अपरोक्ष कहते हैं; यथा—'*काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।*' यहाँ प्रस्तुत प्रसंगमें श्रीसीताजीके देनेकी प्रार्थना करते हैं; इसीसे प्रथम कामके दोष दिखाते हैं कि उससे एक तो सुयशका नाश होता है, यथा—'*कामी पुनि कि रहहिं अकलंका*' (७। ११२)। दूसरे सुमतिका नाश होता है, यथा—'*मुनि अति बिकल मोह मति नाठी*' (१। १३५)। तीसरे शुभगतिका नाश होता है, यथा—'*सुभ गति पाव कि परत्रियगामी।*' चौथे नाना सुखोंका नाश होता है, यथा—'*अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि।*' (३। ४४) पाँचवें कल्याण अर्थात् भलाईका नाश होता है, यथा—'*तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥*' कहनेका तात्पर्य यह कि इन पाँचोंको नष्ट करनेवाली 'परस्त्री' ही है और ये पाँचों सत्संगसे प्राप्त होते हैं—बा० १० (४) '*बिधुबदनी सब भाँति सँवारी*......' देखिये। विभीषण संत हैं, इससे पाँचोंका उपदेश करते हैं।

नोट—१ इन अर्धालियोंके जोड़का श्लोक प्रसन्नराघवनाटकमें यह है। '**उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते। चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका॥**' (७। १७) अर्थात् भलाई, ऐश्वर्य और उन्नतिके चाहनेवाले निश्चय ही परस्त्रीके ललाटपटलको चौथके चन्द्रमाकी तरह कभी नहीं देखते। यहाँ '*लिलारु*' की जोड़में 'ललाट-पटल' और 'भालपट्टिका' हैं। इस श्लोकमें केवल 'उदर्क, भूति' दो ही बातोंके इच्छुकोंकी चर्चा है और मानसमें 'कल्याण, सुयश, सुमति, शुभ गति और नाना सुख' पाँचोंका नाश 'परनारिलिलार' के दर्शनसे कहा है।

टिप्पणी—२ '*सो परनारि लिलारु*......' इति। (क) काव्योंमें स्त्रियोंके मुखके लिये चन्द्रमाकी उपमा दी जाती है। इसीसे यहाँ भी चन्द्रमाकी उपमा दी गयी। और '*चौथि के चंद कि नाईं*' कहा गया; क्योंकि अन्य तिथियोंके चन्द्रमा त्याज्य नहीं हैं। 'परनारि' कहा, क्योंकि जिस स्त्रीके साथ धर्मशास्त्रानुकूल पाणिग्रहण और विवाह हुआ है, वह त्याज्य नहीं है। 'लिलार' शब्दसे 'मुख' का बोध कराया है, 'मुख' शब्दका प्रयोग नहीं करना भी साभिप्राय है। परस्त्रीका मुख चौथके चन्द्रमाके सामन कलङ्कका देनेवाला है, कलङ्की है, अतएव त्याज्य है—यह उपदेश दूसरेको दे रहे हैं। जैसी आपकी कहनी है वैसी ही करनी भी है, दूसरेसे त्याग करनेको कहते हैं और स्वयं उसे इस तरह त्यागे हुए हैं कि अपने मुँहसे 'मुख' शब्दका प्रयोग भी नहीं करते। 'मुख' शब्दतकका त्याग कर दिया है, केवल 'लिलार' से उसका संकेत कर दिया है।—ऐसा अपूर्व त्याग विभीषणजीका है।—[मेरी समझमें केवल 'लिलार' इससे कहा कि चतुर्थीका चन्द्रमा केवल पूर्ण

* अर्धाली ५, ६, ७, ८ पायकुलक है। (ब्र० चं०)

(चन्द्र) का चतुर्थ होता है और ललाट भी मुखमण्डलका चतुर्थ ही समझिये।] (ख) 'काम' कल्याण और सुयश आदि पाँचोंका नाशक है। यह यहाँ 'परनारि-लिलार-दर्शन' द्वारा कहा। आगे क्रोधसे चौदहों भुवनोंके ऐश्वर्यका और लोभसे समस्त गुणोंका नाश होना कहते हैं। (ग) ***'गोसाईं'*** का भाव कि आप राजा हैं, आपको चाहिये कि जो परस्त्रीको ग्रहण करे, उसे दण्ड दें और आपको तो परस्त्री कदापि न ग्रहण करनी चाहिये वरन् उसकी ओरसे इन्द्रियजित् होना चाहिये। राजा प्रजाके लिये आदर्श होता है।

नोट—२ '**तजउ चौथके चंद**……' इति। प्रायः लोकव्यवहारमें भाद्र शु० ४ के चन्द्रमाके दर्शनका निषेध देखा जाता है; परन्तु—'**पंचाननगते भानौ पक्षयोरुभयोरपि। चतुर्थ्यामुदितश्चन्द्रो नेक्षितव्यः कदाचन। चतुर्थ्योर्भाद्रमासस्य चन्द्रचूडस्य भामिनी॥ दिनद्वयं वर्षमध्ये पतिवक्त्रं न पश्यति।**' (३। ३९० ग) (उद्भट-सागर परिशिष्ट)। अर्थात् सिंहराशिपर सूर्यके होनेपर दोनों पक्षोंकी चतुर्थीमें उदय हुए चन्द्रमाका दर्शन कदापि न करना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि भवानी इसीसे चन्द्रशेखर अपने पतिके मुखका दर्शन भाद्रमासकी चतुर्थियोंको अर्थात् वर्षमें दो दिन नहीं करतीं। क्योंकि पतिके मुखके दर्शनसे ललाटस्थित चन्द्रमाका भी दर्शन हो जायगा।—इस प्रमाणके अनुसार दोनों पक्षोंके चतुर्थीके चन्द्रदर्शनका निषेध जान पड़ता है। इसीसे ***'चौथि के चंद'*** कहा है, किसी पक्षका नाम न देनेसे दोनों मतोंका पोषण हो जाता है। अथवा, भाद्र शु० ४ प्रसिद्ध है, इससे पक्षका नाम न दिया। वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि उद्भटसागर तृतीय प्रवाह ३९० ग० के उपर्युक्त श्लोकके प्रमाणमें टीकाकारने '**पंचाननगते भानौ पक्षयोरुभयोरपि। चतुर्थ्यामुदितश्चन्द्रो नेक्षितव्यः कदाचन।**' यह स्मार्तवाक्य उद्धृत किया है। ज्योतिष-चन्द्रिकामें भी ऐसा ही कहा है—'**सिंहादित्ये भाद्रमासे चतुर्थ्यां चन्द्रदर्शने। मिथ्याभिर्दूषणं कुर्यात्तस्मात्पश्येन्न तं सदा।**'

भाद्र शु० ४ गणेशचौथ है। उस दिनके चन्द्रदर्शनके निषेधकी कथा ब्रह्मचारी श्रीगंगाधरजीसे यह सुनी थी कि एक बार श्रीगणेशजी अपने वाहन मूसापरसे फिसल पड़े थे, यह देख चन्द्रमा हँस पड़ा था, उसपर उन्होंने शाप दे दिया कि तेरा दर्शन जो करेगा उसे कलङ्क लगेगा। शाप सुनकर देवताओंमें हाहाकार मच गया, क्योंकि चन्द्रमाके बिना संसारका पोषण असम्भव हो जायगा। देवताओंकी प्रार्थनापर उन्होंने अनुग्रह कर यह कहा कि अच्छा केवल हमारी चतुर्थीको चन्द्रदर्शनका निषेध रहेगा। तबसे भाद्रशुक्ल ४ को उसका दर्शन लोग नहीं करते।

मा० म० का मत है कि सत्ययुगके भाद्र शुक्ल ४ को बृहस्पतिने चन्द्रमाको तारा (बृहस्पति-पत्नी) के साथ व्यभिचार करनेके कारण शाप दिया था कि आजकी रातको तेरा मुख पतित रहेगा अर्थात् तेरा मुख दर्शन-योग्य न रहेगा, जो कोई देखेगा उसे कलङ्क लगेगा। वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि भाद्र कृ० ४ को अहल्याके साथ व्यभिचार करनेमें चन्द्रमाने इन्द्रकी सहायता की थी, इससे उस तिथिका चन्द्रमा भी त्याज्य है।

नोट—३ साधारण जीवोंकी कौन कहे, भगवान् कृष्णजीको चौथके चन्द्रमाके दर्शनसे स्यमंतकमणिकी चोरीका मिथ्या कलङ्क लगा था। अतः चौपाईका भाव यह है कि चन्द्रमा कैसा सुन्दर, स्वच्छ और नेत्रोंको सुखद होता है, पर परतियगामी होनेके कारण वह सुयश आदिसे ऐसा रहित हो गया कि उस दिन बुद्धिमान् अपने सुयशादिके नाशके भयसे उसकी ओर भी नहीं देखते। वैसे ही परस्त्रीके मुखके देखनेका फल होता है।

नोट—४ धोखेसे यदि चन्द्रदर्शन हो जाय तो उसका परिहार यह है कि भगवान् श्रीकृष्णको जो स्यमंतक-मणिकी चोरी लगी थी उस कथाका श्रवण कर ले, जो भा० १०। ५७ में है। ऐसा आज भी लोग करते हैं। पर इसमें शंका यह की जाती है कि 'स्यमंतकमणिकी कथा तो द्वापरसे प्रचलित है और विभीषणजी रावणसे त्रेतायुगमें त्याज्य बताते हैं, तब लोग क्या सुनाते थे?' भागवतमें स्यमंतकोपाख्यानकी फलश्रुति इस प्रकार है—'**यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णोर्वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमंगलं च। आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वा दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम्॥**' (१०। ५७। ४२) अर्थात् ईश्वर भगवान् विष्णुका यह पराक्रमयुक्त दुःखहरण और अत्यन्त मंगलकारी चरित्र जो पढ़े, सुने या स्मरण करे उसका कलङ्क तथा कलङ्कका उत्पन्न करनेवाला पाप भी नष्ट हो जाय और वह शान्तिको प्राप्त हो। यद्यपि इस श्लोकमें भाद्र-चतुर्थीके चन्द्रदर्शन-दोषका

परिहार स्पष्ट नहीं लिखा है तथापि **'दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य'** में उसका भी समावेश हो जाता है।

वे० भू० जी शंकाका समाधान इस प्रकार करते हैं कि स्यमंतकोपाख्यान इसी द्वापरका होते हुए भी भगवान्‌की सभी लीलाओंके समान यह भी नित्य है। और भागवतमें तो श्वेत वाराहकल्पके अतिरिक्त पाद्मकल्प और ब्राह्मकल्पकी कथाएँ हैं, अर्थात् पाद्म और ब्राह्मकल्पमें भी भागवतानुसार श्रीकृष्ण-लीलाएँ हुई थीं। अतः 'त्रेतामें स्यमंतकोपाख्यानका प्रचलित होना कौन आश्चर्य है? अथवा इस द्वापरान्तके पूर्व कलंकित चन्द्रदर्शनके दोष परिहारका कोई दूसरा साधन रहा होगा।' मुझे जहाँतक स्मरण है इस चन्द्रदर्शन-दोषका एक परिहार यह भी है कि फिर प्रतिमास शुक्लपक्षके द्वितीयाके चन्द्रका दर्शन करता रहे। पूर्व कहीं यह लिखा जा चुका है।

चौदह भुवन एक पति होई। भूतद्रोह तिष्टइ* नहिं सोई॥ ७॥
गुनसागर नागर नर जोऊ। अलप लोभ भल कहै न कोऊ॥ ८॥
दो०—काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत†॥ ३८॥

अर्थ—जो चौदहों भुवनोंका भी अकेला ही स्वामी हो, वह भी भूत (जीव) द्रोहसे ठहर नहीं सकता। (अर्थात् ऐसा भी राजा भूतद्रोह करनेसे नष्ट हो जाता है)॥ ७॥ जो मनुष्य गुणसागर (सर्वगुणसम्पन्न) और चतुर हो उसको भी चाहे अल्प ही लोभ क्यों न हो तो भी कोई भला नहीं कहता॥ ८॥ हे नाथ! काम, क्रोध, मद और लोभ ये सब नरकके मार्ग हैं। इन सबोंको छोड़कर रघुवीरको भजो, जिन्हें सन्त भजते हैं॥ ३८॥

नोट—१ *'चौदह भुवन एक पति होई।'* भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, तल, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल और पाताल—ये ही चौदह भुवन हैं। इन सबोंका एकमात्र स्वामी कहकर **'सर्वसामर्थ्ययुक्त'** जनाया **'भूत द्रोह तिष्टइ नहिं'** से **'रक्षाशक्तिराहित्य'** जनाया। अर्थात् उसका शीघ्र ही पुण्यनाश और आत्मनाश हो जाता है, यथा—***'तैं सुर नर मुनि नाग बिरुद्धे। सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाए। एक एक के कोटिन्ह पाए॥ तेहि कारन खल अब लगि बाँच्यो। अब तव काल सीस पर नाच्यो॥'*** (६। ९३) (मा० त० सु०)

प० प० प्र०—इससे उपदेश मिलता है कि 'तलवारकी और कानूनी सत्तापर जो राज्यशासन किया जाता है (और प्रजाको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न नहीं किया जाता है) वह सत्ता शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।' कविकालीन शासनोंकी नीति किस प्रकारकी थी, यह सूचना भी इस अर्धालीमें गर्भित है।

टिप्पणी—१ *'भूतद्रोह तिष्टइ नहिं सोई।'* भाव कि भूतद्रोही ईश्वरका विरोधी होता है; क्योंकि ईश्वर सर्वभूतमय है, यथा—***'जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईश्वर सर्वभूतमय अहई॥'*** (७। ११०) भूतद्रोह भारी पाप है, यथा—*'सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा॥'* और पापसे नाश होता है। इस कथनसे जनाया कि रावण विश्वद्रोही है, यथा—***'बिस्वद्रोहरत यह खल कामी।'*** इसीसे उसका नाश हुआ, यथा—*'निज अघ गयउ कुमारग गामी।'* (६। १०९) काम, क्रोध तो समय टल जानेपर शान्त भी हो जाते हैं, पर लोभ कभी शान्त नहीं होता, लोभीको कभी भी तृप्ति नहीं होती। कामनाकी प्राप्ति हो जानेपर भी संतोष नहीं होता।

टिप्पणी—२ *'गुनसागर……अलप'* इति। 'गुनसागर' से शान्ति, शौर्य और दया आदि लोकगुणोंसे युक्त और 'नागर' से शास्त्रजन्यप्रवीणता सूचित की। वा नागरसे यशस्वी सूचित किया। भाव यह कि अल्प लोभ भी हो तो बहुत हो जाता है, यथा—***'प्रति लाभ लोभ अधिकाई'*** (६। १०१)। 'अल्प लोभ' गुणके समुद्रसे भी अधिक बड़ा है; क्योंकि गुणसागर होनेपर भी प्रशंसा नहीं होती और लोभ अल्प भी

* तिष्ठइ—ना० प्र०। † दोहरा मिश्रित (ब्र० चं०)

होनेसे ही निन्दा होती है। जैसे श्वेत कुष्ठके एक बिन्दुसे भी मनुष्य निन्दित होता है, वैसे ही अल्प लोभसे।

नोट—२ भगवान्‌ने उद्धवजीसे ऐसा ही कहा है, यथा—'**यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः। लोभः स्वल्पोऽपि तान्हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥**' (भा० ११। २३। १६) अर्थात् जिस प्रकार थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूपको बिगाड़ देता है, उसी प्रकार तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यशको और गुणवानोंके प्रशंसनीय गुणोंको नष्ट कर देता है। यहाँ '*गुनसागर नरनागर*' की जोड़में '**यशस्विनां गुणिनाम्**' है।

टिप्पणी—३ (क) '*काम क्रोध मद लोभ*……' इति। पहले केवल काम, क्रोध और लोभको कहा क्योंकि गीतामें केवल इन्हीं तीनको नरकका द्वार कहा है। परंतु पुराणोंमें यमद्वार चार लिखे हैं, अतएव इस दोहेमें चारोंको एकत्र करके एक साथ सबको '**नरकके पंथ**' कहकर इन चारोंका त्याग करनेको कहते हैं। '*सब परिहरि*' कहकर जनाया कि ये चारों दोष तुममें हैं। यदि रावणमें कामादि न कहते तो सब कथन व्यर्थ हो जाता है। अतएव प्रत्यक्षरूपमें यह न कहकर कि आप कामी, क्रोधी आदि हैं उन्होंने वही बात युक्तिसे सुन्दरताके साथ इस प्रकार कह दी कि कामादि नरकके पथ हैं, उनका त्याग करो। और रघुबीर श्रीरामजीका भजन अपवर्गका मार्ग है, उसे ग्रहण करो। यथा—'*संतसंग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।*' (७। ३३) [काम, क्रोध और लोभ तीनों नरकके पंथ हैं; यथा—'**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥**' (गीता १६। २१)। ☞भेद गीता और मानसमें केवल इतना है कि गीतामें इनको नरकका द्वार कहा है और मानसमें नरकका पंथ। भावार्थ एक ही है। ☞श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णजीने 'अर्थ' (धन) के कारण जो पंद्रह अनर्थ मनुष्योंको होते हैं उनको इस तरह वर्णन किया है—'**अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये। नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥' स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः। भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥**' (११। २३। १७-१८) अर्थात् धनके उपार्जनमें और उपार्जन कर लेनेपर उसकी वृद्धि, रक्षा एवं व्यय करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें मनुष्योंको निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका सामना करना पड़ता है। चोरी, हिंसा, मिथ्याभाषण, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा (होड़, ईर्ष्या) और (स्त्री, द्यूत एवं मद्यके) व्यसन—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंको धनके कारणसे होते हैं। ☞यह कहकर भगवान्‌ने कहा है कि कल्याणके इच्छुकोंको इनको दूरसे ही त्याग करना चाहिये; यथा—'**एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्। तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥**' (भा० ११। २३। १९) और इनके पूर्व प्रारम्भमें यह भी बताया है कि इस लोकमें कदर्यका धन उसके चित्तको संतप्त करनेके लिये होता है और मरनेपर उसके नरकका कारण होता है। उपर्युक्त उद्धरणोंमें काम, क्रोध, मद (लोभको पूर्व ही कह आये हैं) को नरकका कारण और इह लोक और परलोक दोनोंका नाशक कहा है।—यही सब भाव इस दोहेमें हैं।] (ख) '**के**' बहुवचन देकर जनाया कि इनमेंसे प्रत्येक नरकका मार्ग है। और आपमें सब हैं। ☞कामादि पहले कल्याण, सुयश, सुमति आदिका नाश करते हैं, फिर अन्तमें नरकको ले जाते हैं। अतः पहले कल्याण आदिका नाश कहकर तब नरकदायक कहा। इस तरह प्रथम इहलोकका नाश कहकर परलोकका भी नाश जनाया।

नोट—३ रावणमें ये चारों होनेके प्रमाण, यथा—'*देव जच्छ गंधर्ब नर किंनर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल बहुसुंदर बर नारि॥*' (१। १८२) (यह कामासक्ति है); '*रावन आवत सुनेउ सकोहा।*………*देइ देवतन्ह गारि पचारी॥*' (१। १८२), '*आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा।*' (१। १८३) (यह क्रोध है); '*रन मद मत्त फिरइ जग धावा।*' (१। १८२), '*परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस।*' (५। ३९), '*तेहि कहँ पिय पुनि-पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू॥*' (६। ३६), '*उमा रावनहि अस अभिमाना। जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना॥*' (६। ३९), '*अति गर्ब गनइ न सगुन असगुन*………*।*' (६। ७७), '*बैठ जाइ सिंघासन फूली। अति अभिमान त्रास सब भूली॥*' (६। ३७)—(यह मद, गर्व वा अभिमान पर्यायी शब्दोंके

उदाहरण हैं) दूसरेकी वस्तुको छीननेमें लोभ ही कारण है, सो तो इसके सारे चरित्रमें है—*'एक बार कुबेर पर धावा। पुष्पक जान जीति लै आवा॥'* (१। १७९) ☞ काम, क्रोध, मद, लोभ कहकर जनाया कि तुमको मोह है; यथा—*'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।'* (३। ४३) *'सब परिहरि'* का भाव कि इनमेंसे यदि एक भी रह जाय तो जीवको यथार्थ सुख नहीं होता। (मा० त० सु०) *'भजहिं जेहि संत'* इति। मन्दोदरीने भी ऐसा ही कहा है, यथा—*'तासु भजन कीजिअ तहँ भर्ता।'*.........*मुनिबर जतन करहिं जेहि लागी। भूप राज तजि होहिं बिरागी। सोइ कोसलाधीस रघुराया।'* (६। ७) कामादिसे सुयशका नाश है और प्रभुके भजनसे सुयशकी प्राप्ति है, यथा—*'जौं पिय मानहु मोर सिखावन। सुजसु होइ तिहुँ पुर अति पावन॥'* (६। ७)

मा० त० सु०—तीन अर्धालियोंमें तीन उपदेश दिये। *'सो परनारि'*.........*', 'भूतद्रोह तिष्टइ नहिं'*......*'* और *'अलप लोभ'*......*'।* प्रथम उपदेशमें कामको; द्वितीयमें क्रोधको और तृतीयमें लोभको त्याग करनेको कहा। उन तीनोंके फलोंका समुच्चय दिखलाते हुए उनका त्याग और जीवनका महाकल्याणकारक मुख्य उपदेश दोहेमें कहते हैं।

☞ नरकपंथसे और संतसे मिलान नहीं होता। अर्थात् नरकपंथसे संत नहीं जाते। इसीसे ग्रन्थकारने *'पंथ'* और *'संत'* का अनुप्रास न मिलाया। यहाँ संत, वहाँ पंथ—दोनोंमें केवल एक मात्राका अनुप्रास है। *'चंद्रहास हर मम परितापं। रघुपति बिरह अनल संजातं॥'* में आधे मात्राका (अनुस्वारमात्रका) अनुप्रास है। *'द्विविद मयंद नील नल अंगद गद बिकटासि। दधिमुख केहरि निसठ सठ जामवंत बलरासि॥'* में कुछ अनुप्रास नहीं है। वस्तु दिखानेके लिये कवि अशुद्ध शब्दोंका प्रयोग किया करते हैं।

नोट—४ इस दोहेमें *'पंथ'* और *'संत'* पद विषम तुकान्तके होनेपर भी मित्रवर्गीय और सममात्रिक होनेसे कविकुलसम्मत और अदूषित माना गया है। इसी प्रकार कहीं वर्गमैत्री, कहीं प्रयत्न-(उच्चारण-स्थान-) साम्य, कहीं केवल मात्रासाम्य और कहीं समवर्ण-मात्रिक अनुप्रास न मिलनेसे विषम तुकान्त प्रयुक्त होते हैं, पर यदि इन्हीं कारणोंसे प्रयुक्त विषम तुकान्त हों तब तो वे सुकवि सम्मत होते हैं, अन्यथा नहीं। सुन्दरकाण्डके विषम तुकान्त; यथा—*'परितापं, संजातं', 'बृंद, मंद', 'चिंता, बिपरीता', 'बिभूषन, बिभीषन', 'पुंज, कंज',* एवं *भृंग, मतंग* इत्यादि। (मा० त० सु)

टिप्पणी—४ (क) *'भजहिं जेहि संत'।* भाव कि संतसे बड़ा कोई नहीं, सो नारद, शुक, सनकादि, शिव आदि संत जिनका भजन करते हैं। (ख) *'सब परिहरि'* का भाव कि संत सब छोड़कर भजते हैं वैसे ही तुम भी भजो। यथा—*'संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन॥ तासु भजन कीजिय तहँ भर्ता।'*.........*', 'रामहिं सौंपि जानकी नाइ कमलपद माथ। सुत कहँ राज समर्पि बन जाइ भजिय रघुनाथ॥'* (लं० ६) संत सुत, वित्त और लोग—इन तीनोंकी ईषणा छोड़कर प्रभुका भजन करते हैं, यथा—'**एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।**' (बृह० १। ५। १) [पुनः, *'सब परिहरि'* अर्थात् काम, क्रोध, मद, लोभ जो नरकके मार्ग हैं, इन सबोंको छोड़कर। (प० प० प्र०) *'रघुबीर'* से पञ्चवीरतायुक्त जनाया। कृपावीर हैं, अपराधोंको क्षमा करेंगे। दानवीर हैं, लंकाका अचल राज्य तुमको देंगे। विद्यावीर हैं, ज्ञान-भक्ति—शुभगति देंगे। धर्मवीर हैं, धर्मरक्षार्थ लड़ेंगे, धर्मयुद्ध करेंगे। युद्धवीर हैं, अतः तुम्हारी वीरता उनके आगे कुछ काम न देगी। (प० प० प्र०)] ☞ संत उनको भजते हैं, यह प्रमाण देकर इनके भजनसे उपदेश दिया। इस दोहेतक अपना *'मति अनुरूप हित'* कहा। आगे पुलस्त्यजीका संदेश कहते हैं।

तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥ १॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता*॥ २॥

* (१) से (५) तक पायकुलक है। (६) का 'भजहु.........' द्रुतपा है। (ब्र० चं०)

अर्थ—हे तात! 'राम' नर भूपाल नहीं हैं। वे (समस्त) भुवनों (ब्रह्माण्डों) के स्वामी और कालके भी काल हैं॥ १॥ वे ब्रह्म हैं, अविद्यारूपी रोगोंसे रहित हैं, अजन्मा और षडैश्वर्ययुक्त हैं, व्यापक, अजित अनादि और अनन्त हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम विकारोंका त्याग कहकर (पीछे) (अब) ईश्वरके स्वरूपका ज्ञान कहते हैं, क्योंकि कामादि विकारोंसे रहित होनेपर ही जीव परमेश्वरके जाननेका अधिकारी होता है, यथा—*'करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि कहि कहि सबहिं सिखावौं। हौं निज उर अभिमान मोह मद खलमंडली बसावौं॥'* (वि० १४२), *'जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।'* और आगे भी कहा है—*'परिहरि मान मोह मद भजहु कौसलाधीस।'* जबतक चित्तमें कामादि रहते हैं तबतक भगवत्तत्त्वका न बोध होता है और न भक्ति होती है। इसीसे भक्त सदा माँगते हैं कि **'कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च।'** (ख) रावणको संदेह है। वह प्रभुको नर समझता है, यथा—*'तेहि रावन कहँ लघु कहसि नर कर करसि बखान॥'* (६। २५) और सब मन्त्री भी यही कह रहे हैं कि *'नर बानर केहि लेखे माहीं।'* इसीपर विभीषणजी कहते हैं कि *'तात राम नहिं नर भूपाला।'* अर्थात् ये मन्त्री जो कहते हैं तथा आप भी जो समझ रहे हैं कि ये मनुष्य हैं, राजकुमार हैं, यह विचार ठीक नहीं है। (ग) भुवन=ब्रह्माण्ड। ब्रह्माण्ड अनेक हैं, यथा—*'देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया। अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न-भिन्न नर नारी॥'* (उ० ८१) ब्रह्माण्डोंको काल खाता है, यथा—*'ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥'''''' ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥'* (आ० १३) *'भुवनेस्वर कालहु कर काला'* कथनका भाव यह हुआ कि काल ब्रह्माण्डोंको खा सकता है, पर बिना प्रभुकी आज्ञाके वह ऐसा कर नहीं सकता; क्योंकि प्रभु समस्त ब्रह्माण्डोंके मालिक हैं और 'कालके भी काल' हैं; अर्थात् जो काल ब्रह्माण्डोंको खा जाता है, उस कालको भी प्रभु खा जाते हैं, यथा—*'भृकुटिभंग जो कालहि खाई।'* (६। ६५); अर्थात् उसके भी मालिक हैं, शासक हैं, प्रेरक हैं, नियामक हैं, प्रवर्तक हैं। इस प्रकार प्रभुको देशकालातीत सिद्ध करके तब उनको *'ब्रह्म'* कहते हैं। क्योंकि ब्रह्ममें देशकाल दोनों ही नहीं हैं। इन दोनोंका नाश हो जानेपर एक वही ब्रह्म (राम) रह जाते हैं। पुनः, भुवनेश्वरका भाव कि जबतक समस्त भुवन रहते हैं तभीतक देश (भुवन) का सम्बन्ध रहता है और वे *'भुवनेस्वर'* कहे जाते हैं। जब काल समस्त भुवनोंको खा लेता है तब देशसम्बन्ध छूट जाता है। फिर जबतक काल रहता है तबतक कालका सम्बन्ध रहनेसे वे *'कालहु कर काला'* अर्थात् कालके पति कहलाते हैं। जब कालका भी नाश हो जाता है तब यह सम्बन्ध भी नहीं रहता, केवल ब्रह्म रहता है जो देशकालातीत है, दोनोंसे रहित है, परे है। (घ) *'अनामय अज'* आदि ब्रह्मके विशेषण हैं। उनके क्रमका भाव—ब्रह्ममें अविद्या नहीं है। अविद्याके वश प्राकृतोंका जन्म होता है। प्रभु निरामय हैं, उनका अवतार या जन्म, कर्म मायाके वश नहीं होता; क्योंकि वे भगवन्त हैं—स्वयं उत्पत्ति और प्रलय करते हैं, विद्या और अविद्या दोनोंके प्रेरक हैं। व्यापक हैं, इसीसे अजित हैं; क्योंकि व्यापकको कौन जीत सकता है। अनादि हैं, इसीसे अनन्त हैं—*'आदि अंत कोउ जासु न पावा।'* आगे अवतारका हेतु कहते हैं।

म० त० सु०—पहिले *'तात राम नहिं नर भूपाला'* इत्यादि वचनोंसे व्याप्यात्मक ब्रह्मस्वरूप दिखलाया, फिर तदात्मक शुद्ध ब्रह्मका स्वरूप आठ विशेषणोंद्वारा प्रतिपादित किया।

नोट १—*'ब्रह्म अनामय अज''''''''* इति। (क) ब्रह्म आदि शब्दोंकी विस्तृत व्याख्या कई बार लिखी गयी है। कुछ व्याख्या यहाँ भी की जाती है। स्थूल-सूक्ष्म, व्यक्त-अव्यक्त सम्पूर्ण जीवोंको नित्य अपने कल्याण-गुणोंसे बढ़ानेसे और अपने स्वरूप-रूप-गुण-वैभवसे सदा बढ़नेसे श्रीरामजीका नाम ब्रह्म है। यथा—**'व्यक्ताव्यक्तसमष्ट्यादिपुरुषाश्चैव नित्यशः। गुणैश्च कल्याणतमैर्ब्रह्म बृंहयतीति च॥ रूपैः स्वरूपेण गुणैर्विभवैश्च स्वयं मुहुः। ब्रह्मेति स तु वा 'ब्रह्म' षडर्णः सन्ततिप्रदः॥'** इति निरुक्त। सम्पूर्ण जगत्में अपने स्वरूप-रूप-गुणोंसे व्याप्त तथा स्वयं बढ़नेवाले और आश्रितोंको बढ़ानेवाले हैं। पुनः, ब्रह्म=परम अक्षर अर्थात् जिसका

कभी नाश न हो ऐसा सच्चिदानन्दघन परमात्मा ब्रह्म है, यथा—'**अक्षरं ब्रह्म परमम्।**' (गीता ८। ३)

(ख) अज—जिसका जन्म समझमें नहीं आता, यथा—'**यस्या जननं नोपलभ्यते तस्मादुच्यते अजा**' (श्रीदेव्यथर्वशीर्षम्)। अथवा भक्त प्रह्लादके लिये खम्भसे प्रकट होनेसे तथा इतर जीवोंके-जैसा प्रकट नहीं होनेसे 'अज' नाम है। यथा—'**स्तम्भजातत्वादितरवन्न जातत्वादजः स्मृतः।**'

(ग) '*भगवंता*' इति। **भगवान् भगवन्तौ भगवन्तः।** '**सर्वहेयप्रत्यनीककल्याणगुणवत्तया। पूज्यात्पूज्यतमो योऽसौ भगवान्' इति शब्द्यते।**' (निरुक्त) अर्थात् त्याज्य मायिक दोष गुणोंके विरोधी है, जैसे अन्धकारका विरोधी प्रकाश, और दिव्य कल्याणगुणोंसे युक्त तथा सम्पूर्ण पूज्योंसे भी पूज्योतम होनेसे 'भगवान्' नाम है। पुनः '**भगवंत**=सम्यक्-ऐश्वर्य-सम्पन्न, कर्तुमकर्त्तुं समर्थ इत्यादि।'

(घ) '*व्यापक*' इति। अर्थात् चेतनाचेतन सम्पूर्ण व्याप्य वस्तुओंमें सदा (मौजूद, उपस्थित) रहते हैं।

(ङ) 'अजित'=किसीसे न जीते जाने योग्य। पुनः, प्राकृतोंद्वारा न जीते जाने योग्य, 'अपराजिता, अजिता अयोध्या नामक पुरीमें निवास होनेसे 'अजित' नाम है। यथा—'**प्राकृतैर्न जिता या सा यस्यास्तीत्यजितापुरी। अजितस्तेन विज्ञेयः ससार्णो मुक्तिदो मनुः॥**' पुनः, चाक्षुष नामक छठे मन्वन्तरमें भगवान्‌ने वैराजकी पत्नी सम्भूतिके गर्भसे 'अजित' नामका अंशावतार ग्रहण किया, समुद्रमन्थन कर अमृत निकाला और वही कच्छपरूप धारणकर मन्दराचलरूपी मथानीके आधार बने थे। अतः 'अजित' कहलाये।

(च) '*अनादि*' '*अनंता*' इति। यथा—'*आदि अंत कोउ जासु न पावा।*' कबसे हैं, इसका पता कोई न लगा पाया। 'अनन्त' अर्थात् देशतः कालतः त्रिविध-परिच्छेद्यशून्य; सब देशोंमें, सब कालोंमें, सब वस्तुओंमें जिसकी आधि (अवधि) नहीं। यथा—'**देशतः कालतो वाऽपि गुणतो वस्तुतोपि वा। अवधिर्यस्य नास्तीति सोऽनन्तः समुदाहृतः॥**' (निरुक्त), '**नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे**' (गीता १०। १९); '**अथैतस्यैवान्तो नास्ति यद्ब्रह्म**' (यजुर्वेद का० ७। ३। ४); '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' (तै० उ०)।

गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तनु धारी॥ ३॥
जनरंजन भंजन खलब्राता। बेद धर्म रक्षक सुनु भ्राता॥ ४॥

अर्थ—पृथ्वी, ब्राह्मण, गौ और देवताओंका हित करनेवाले हैं, दयासागर हैं, (दया करके) मनुष्य-शरीर धारण करते हैं॥ ३॥ हे भाई! सुनिये, 'राम' (रघुराई) जनको आनन्द देनेवाले, दुष्टोंके समूहके नाशक, और वेद तथा धर्मके रक्षक हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) वर्तमानका हाल कहते हैं, इसीसे '*मानुष तनु धारी*' कहा; नहीं तो वे नाना प्रकारके शरीर धरकर देवताओं आदिके दुःख दूर करते हैं। (ख) यहाँ गौ (पृथ्वी) को आदिमें कहा, क्योंकि जब पृथ्वीका भार उतरे, निशाचर मरें, तब द्विज और देवताका हित हो। (ग) मनुष्य-तन धारण करनेमें 'कृपासिंधु' विशेषण दिया। क्योंकि अवतारका मुख्य कारण कृपा ही है। यथा—'*सो प्रगट करुनाकंद सोभाबृंद……' हिरन्याक्ष भ्रातासहित मधुकैटभ बलवान। जेहिं मारे सोइ अवतरेउ कृपासिंधु भगवान॥* (६। ४७), '*एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥*' बालकाण्ड १३ (३-५) देखिये। (घ) यहाँ दिखाया कि श्रीरामजी प्राकृत नर नहीं हैं, ब्रह्म नररूप हैं। प्रथम कहा था कि '*राम नहिं नर*' वे मनुष्य नहीं हैं। जो कहिये कि देखनेमें तो नर हैं, उसीपर कहते हैं कि वे ऐसे मनुष्य हैं—'*गो द्विज धेनु………*'।

टिप्पणी—२ '*जनरंजन भंजन खलब्राता……*' इति। (क) विभीषणजीने प्रकट नहीं कहा, केवल अभिप्रायसे जना दिया कि भगवान् '*गोद्विज……धर्म*' के रक्षक हैं और तुम इन सबके विरोधी हो। दोनोंका मिलान—

श्रीरामजी	रावण
गो द्विज धेनु देव हितकारी	**जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥**
जनरंजन	**मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥**

भंजन खलब्राता	**बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा॥**
वेद-रक्षक	**बहु बिधि त्रासइ देस निकासै जो कह बेद पुराना॥**
धर्मरक्षक	**जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥**

तात्पर्य कि 'नरतन' तुम्हारे मारनेके निमित्त हुआ है, तुम्हारी मृत्यु मनुष्यके हाथ है, इसीसे साक्षात् ब्रह्म नररूप हुए, तुम उनसे वैर न करो। (ख) गो, द्विज, धेनु आदि उनके 'जन' हैं। इसीसे उनके विरोधियोंको मारकर उनको आनन्द देते हैं। नरतनधारी होना प्रथम कहकर फिर *'जनरंजन भंजन खलब्राता'* यह उसका व्यवहार कहा। गीतामें भी भगवान्‌ने अवतारका यह कारण कहा है। यथा—'**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥**' (ग) प्रथम जनरंजन कहा, क्योंकि इन्हींकी रक्षाके लिये खलोंका वध करते हैं। खलवध होनेसे वेदधर्मकी रक्षा होती है, इसीसे '**भंजन खलब्राता**' कहकर तब 'वेदधर्मरक्षक' कहा।

ताहि बैर* तजि नाइय माथा। प्रनतारति† भंजन रघुनाथा॥ ५॥
देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही। भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥ ६॥

अर्थ—वैर छोड़कर उनको मस्तक नवाइये। श्रीरघुनाथजी शरणागतके दुःखके नष्ट करनेवाले हैं॥ ५॥ हे नाथ! प्रभुको वैदेही दे दीजिये और बिना कारण ही स्नेह करनेवाले रघुनाथजीको भजिये॥ ६॥

मा० त० सु०—*'ताहि बैर तजि'* का भाव कि *'गो द्विज धेनु'* आदिसे जो तुमने वैर किया वही उनके साथ हुआ, यथा—*'मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैर अधिकाई॥'*

टिप्पणी—१ (क) *'प्रनतारति भंजन रघुनाथा'* ऐसा सम्बोधन करके अर्थात् आर्त्त वाणी कहकर प्रणाम करो। ☞ श्रीविभीषणजी जैसा रावणसे कह रहे हैं वैसा ही प्रभुकी शरण जानेपर उन्होंने स्वयं प्रणाम करते समय कहा है' यथा—*'त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥'* (४५), *'अस कहि करत दंडवत देखा।'* *'त्राहि त्राहि'* कहना यही आर्त्त-गिरा है, यथा—*'प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि त्राहि अब मोहि। आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो तोहि॥'* (लं० २०) पुनः भाव कि श्रीसीताजी आर्त हैं, वे *'दीनदयाल बिरुद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥'*, इस प्रकार श्रीरामजीकी शरण गयी हैं। उनकी आर्तिको भंजन करनेके लिये तथा रघुवंशीय अबलाको सनाथ करनेके लिये वे तुमको मारेंगे, यह *'प्रनतारति भंजन रघुनाथा'* से सूचित किया। (ख) *'नाइय माथा'* इति। विभीषणजीने रावणके कल्याणहेतु मुख्य उपाय बताया कि इस दरबारमें केवल मस्तक नवानेका काम है, कुछ भेंट-पूजा भी न चाहिये, यथा—*'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। ततकाल तुलसीदास जीवन जन्मको फल पाइहै॥'*—(विनय०), *'सकृत प्रनाम किहें अपनाए।'* (२। २९९) (ग) यहाँ 'रघुनाथ' पद देकर समस्त ऐश्वर्यकी घटना माधुर्यमें की, यथा—*'एहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥'* (१। २४२), अर्थात् इस शब्दको देकर जनाया कि जो ऐश्वर्य ऊपर *'भुवनेस्वर कालहु कर काला'* से *'बेदधर्म रक्षक सुरत्राता'* तक वर्णन किया गया, वह इन्हीं 'राम' का है जो दशरथात्मजरूपसे रघुकुलमें अवतरित हुए हैं, वे 'राम' कोई और नहीं हैं।

टिप्पणी—२ *'देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही।……'* इति। (क) याचना करनेके योगसे *'नाथ'* सम्बोधन किया। [पुनः, भाव कि आप मेरे तथा समस्त राक्षसोंके नाथ हैं। आपके विनाशसे हम सब अनाथ हो जायँगे। (प० प० प्र०)] *'प्रभु'* का भाव कि वे समर्थ हैं, न दोगे तो भी वे अपने सामर्थ्यसे ले लेंगे। तब क्या बात रह जायगी? (ख)—*'राम बिनु हेतु सेनही'* अर्थात् और सब स्वामी कारण पाकर ही स्नेह करते हैं और ये बिना कारण ही सबपर स्नेह करते हैं, यथा—*'हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'* (७। ४७), *'बिनु हेतु हित तें नहिं लखा'* (विनय० १३५), *'बिनु हेतु करुनाकर उदार अपार माया तारनं।'* (विनय १३६), *'मातु पिता स्वारथरत होऊ।'* (७। ४७), *'अस प्रभु दीनबंधु*

* बयरु—ना० प्र०। † प्रनतारत—भा० दा०।

हरि कारनरहित दयाल॥' (१। २११) वे तो बिना कारण ही स्नेह करते हैं और तुममें जब स्नेहके कई कारण हो जायँगे—जैसे कि प्रणाम करना, वैदेहीको दे देना, भजन करना—तब तो बात ही क्या? वे स्नेह क्यों न करेंगे? (ग) 'वैदेही' का भाव कि जैसे विदेहराजने अर्पण किया वैसे ही तुम भी अर्पण करो—***'मोरे कहे जानकी दीजे'*** (२२। १०) में 'जानकी' के जो भाव कहे गये हैं वे ही 'वैदेही' के हैं। अतः दोहा २२ की अर्धाली १० देखिये। ऐसा ही शुक, मन्दोदरी, अंगदजी और माल्यवान्‌ने कहा है; यथा-क्रमसे—***'जनकसुता रघुनाथहि दीजै। एतना कहा मोर प्रभु कीजै'***—(५७), ***'रामहिं सौंपि जानकी नाइ कमलपद माथ। सुत कहुँ राजु समर्पि बन जाइ भजिय रघुनाथ॥'*** (लं० ६), ***'सादर जनकसुता करि आगे। एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे॥'*** (लं० २०), और ***'परिहरि बैरु देहु बैदेही। भजहु कृपानिधि परम सनेही॥'***—(लं० ४८) सर्वत्र यही भाव है। [पूर्व जो कहा था कि ***'ताहि बैरु तजि नाइय माथा।'*** उसीका यहाँ स्पष्टीकरण है—***'देहु······बैदेही।'*** वैदेहीका दिया जाना ही बैरका त्याग है। (मा० त० सु०) अथवा, भाव कि सीता वैदेही हैं, उनको देहका ममत्व नहीं; अतः वे कभी भी तुम्हारे वशमें नहीं हो सकतीं। इस प्रकार न तो सीता तुमको प्राप्त होंगी, न ऐश्वर्य ही रह जायगा और न तुम जीवित ही बचोगे। (प० प० प्र०)]

सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा॥७॥
जासु नाम त्रयताप नसावन। सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन*॥८॥

अर्थ—शरणमें जानेपर तो प्रभुने उसका भी त्याग नहीं किया, जिसे संसारभरसे द्रोह करनेका पाप लगा हो॥ ७॥ जिनका नाम तीनों तापोंका नाशक है वही प्रभु प्रकट हुए हैं—हे रावण! इसे हृदयसे समझो॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) कदाचित् रावणको यह संदेह हो कि हमने तो उनका बड़ा अपराध किया है, शरण जानेपर भी हमको शरणमें न लेंगे, उसीपर कहते हैं कि ***'सरन गएँ······'।*** (ख) 'बिस्वद्रोह कृत·········' का भाव कि तुम विश्वद्रोही हो, यथा—***'बिस्वद्रोहरत यह खल कामी।'*** (६। १०९) (ग) 'प्रभु' का भाव कि शरणागतके विश्वद्रोहकृत पापको भी नाश करनेमें समर्थ हैं। शरण जाते ही ऐसा पाप भी नष्ट हो जाता है, यह शरणागतिका माहात्म्य है; यथा—***'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।'*** (४४। २) पुनः यथा—***'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥'*** (४८। २-३) आशय यह कि शरणागतको रखनेकी सामर्थ्य है, उसके त्यागकी सामर्थ्य नहीं है।

टिप्पणी—२ ***'जासु नाम त्रयताप नसावन······'*** इति। (क) यह कहकर अलभ्य लाभ दिखाते हैं कि लोग जिसका नाम जपते हैं पर रूपके दर्शन नहीं पाते, वही प्रभु प्रकट हुए हैं। तुमको उस रूपकी प्राप्ति सुलभ हुई है। यथा—***'जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥ सो मम लोचन गोचर आगे'*** (गृध्रराज; ३। ३१) ***'जासु नामबल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी॥ मम लोचन गोचर सोइ आवा।'***—(बालि०; ४। १०) तथा यहाँ ***'सोइ प्रभु प्रकट समुझु जिय रावन।'*** तात्पर्य यह कि बिना समझे ऐसे लाभकी हानि हो जाती है; ऐसा अवसर पाकर चूकें तो ***'बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा।'*** (४। १०) (ख) ***'समुझु जिय रावन'***—यह कथन पुलस्त्यजीका है; विभीषणजी अपनी ओरसे ऐसा न कहते। ये तो 'तात, नाथ, भ्राता' इत्यादि सम्बोधन देते आ रहे हैं। (ग) गोस्वामीजी दोहावलीमें लिखते हैं कि ***'पय अन्हाइ फल खाइ जपु रामनाम षट मास। सकल सुमंगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास॥'*** छः महीने नियमसे नामका जप करनेसे त्रिताप नाश होते हैं। [पुनः, 'त्रयतापनसावन', यथा—***'राम राम राम जाप जौं लौं तू न जपिहै। तौं लौं तू जहाँ जैहै तहाँ तिहूँ ताप तपिहै'***—(विनय० ६८)। ['सोइ' अर्थात् जिनके नामका ऐसा प्रभाव और प्रताप है वही प्रभु ये हैं। दुष्टोंको मारकर उनके त्रितापको नाश करनेके लिये प्रकट हुए हैं—यह 'समझ ले'।

* 'सरन······' तामरस, 'बिस्व······' पाय कुलक, (८) में ११५९ वाँ १२२० वाँ भेद। (ब्र० चं०)

'रावन' का भाव कि जिन लोगोंको तू रुलाता है उन सबोंके सदृश इनको न समझ। (मा० त० सु०)]

लमगोड़ाजी—वर्तमान जनसत्तात्मक राजनीतिकी यह अभी गुत्थी ही है कि मन्त्रिमण्डल राजसभा (पारलियामेण्ट) के हाथमें या प्रजाके हाथमें लिखौना हो या कम-से-कम अमेरिकाकी तरह निश्चित समयके लिये कुछ स्वतन्त्र। भाई, यदि राजाका भय चला गया तो प्रजाका भय तो बना ही है। मेरे मित्र पं० शंकरलालजी मजाकमें बड़ी गूढ़ बात कहा करते हैं कि 'भैया, राजाका भय नहीं है, पर मैकू भाईके मारे जब हमारे प्रधानमन्त्री स्वतन्त्र हों तब तो ठीक बात हो सके; नहीं तो कल निकाल दिये जायँ, कारण कि वोट तो मैकू भाईके ही अधिक हैं। श्रीरामराज्यमें—१ राजा, २ साधु, ३ लोकमत, ४ मन्त्री, ५ पण्डित, साधारणतया स्वतन्त्र हैं और Bryce के कथनके अनुसार whole nature सब जनताका मत तब ही हो सकता है जब ये पाँचों एकमत हों, विशेषकर important matters खास बातोंमें। देखिये, दोनों लड़ाइयोंके समय इग्लैण्डमें भी Party Government चल न सकी। वोटकी गणना तो साधारण समयके लिये और सामान्य विषयोंके लिये ही हो सकती है। 'साधारणतया' का शब्द विचारमें रहना चाहिये, असाधारण संकटके समय तो स्वयं ऋषिगण ही राजा वेनकी मृत्युके कारण बने; जैसा कि श्रीसम्पूर्णानन्दजीने अपने फतेहपुरके स्पीचमें कहा था।

दो०—बार बार पद लागउँ बिनय करउँ दससीस।
परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस॥
मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन कहि पठई यह बात।
तुरत सो मैं प्रभु सन कही पाइ सुअवसरु तात*॥ ३९॥

अर्थ—हे दसशीश! मैं बारम्बार चरणोंमें लगकर विनती करता हूँ कि मान, मोह और मदको छोड़कर कोसलेश रामचन्द्रजीका भजन करो। पुलस्त्य मुनिने अपने शिष्यसे यह बात कहला भेजी थी। हे तात! सुन्दर अवसर पाकर मैंने तुरंत ही वह बात आपसे कही॥ ३९॥

टिप्पणी—१ शंका—विभीषणजी पुलस्त्यजीका संदेश कह रहे हैं, तो बार-बार पद क्यों लगते हैं? क्या पुलस्त्यजीने ऐसा करनेको कहला भेजा था? समाधान—विभीषणजी बात तो पुलस्त्यजीकी कही हुई कह रहे हैं, पर चरणस्पर्श अपनी ओरसे करते हैं, विनय करते हैं एवं हाथ जोड़ते हैं। क्योंकि नम्रतासे उपदेश करना यह बड़ोंकी रीति है; यथा—*'बिनती करउँ जोरि कर रावन', 'औरौ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि'*—(श्रीराम; ७। ४५।—[पुनः *'बार बार पद लागउँ'* यह पद अतिस्नेहसे और भ्रातृभावसे कहा गया। (मा० त० सु०)] नम्रतापूर्वक उपदेशसे सफलताकी आशा रहती है।

टिप्पणी—२ *'परिहरि मान मोह मद भजहु'* ये तीनों भजनके बाधक हैं, इसीसे बुद्धिमान् लोग इनका त्याग करते हैं। प्रथम काम, क्रोध, मद और लोभको त्याग करनेको कह चुके हैं, अब मान, मद, मोहको छोड़नेको कहते हैं—ये दोनों मिलकर षड्विकार हैं। इस प्रकार षड्विकारका त्याग सूचित किया।—[मान सर्वलोक-विजयित्व आदिका, मोह श्रीराघवजीमें नरबुद्धि आदिका और मद कुम्भकर्ण-मेघनादादि प्रबल अजेय कुटुम्ब तथा अपने भुजबलका; यथा—*'कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि। मोर पराक्रम नहिं सुनेहि जितेउँ चराचर झारि॥'* (६। २७), *'परिहरि मान मोह मद'* कहकर जनाया कि मानादि त्याज्य हैं। *'भजहु कोसलाधीस'* यह कर्तव्य कार्य बताया। (मा० त० सु०) रावणने कुम्भकर्णसे अपनेमें मोह, मद, मानका होना स्वीकार किया है; यथा—'**विभ्रमाच्चित्तमोहाद्वा बलवीर्याश्रयेण वा। नाभिपन्नमिदानीं यद्व्यर्थास्तस्य पुनः कथाः॥**' (वाल्मी० ६। ६३। २४) अर्थात् मैंने चित्तविभ्रमसे, मोहवश अथवा अपने बलवीर्यके अहंकारसे जो कार्य नहीं किया (अपने भाई और स्त्रीकी सलाह नहीं मानी) उसको अब बारंबार कहना व्यर्थ है। अथवा, किसीके सामने नम्र न होनेवाला स्वभाव ही 'मान' है। वाल्मी० ६। ३६। ११ पूर्व आ चुका है।]

* 'बार बार·····' दोहरा, 'मुनि······' कच्छ दोहा है। (ब्र० चं०) यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलङ्कार' है। (वीर)

टिप्पणी—३ 'कोसलाधीस' का भाव कि इनके भजनसे इहलोक और परलोक दोनोंमें कुशल है। ☞विभीषणजीका सिद्धान्त है—*'भजन करना'*; इसीसे वे बारंबार 'भजन' करनेको कहते हैं—*'सब परिहरि रघुबीरहि भजहु'*—(१) *'भजहु राम बिनु हेतु सनेही'*—(२), *'भजहु कोसलाधीस'*—(३)।

नोट—*'मुनि पुलस्ति'* इति। मुनिसे जनाया कि मनन-निदिध्यासन करके उन्होंने जो संदेश भेजा है, उसका स्वयं साक्षात्कार कर लिया है, तब संदेश भेजा है। वे त्रिकालज्ञ हैं। *'पुलस्ति'* का भाव कि उनका सुन्दर निर्मल यश जगत्‌में प्रसिद्ध है, चन्द्रवत् सबको आनन्द देता है, उनकी बात माननेसे आपका भी कल्याण होगा। *'कहि पठई यह बात'* का भाव कि तुमको अपने वंशमें उत्पन्न जानकर यह परमश्रेयस्कर मार्ग कहला भेजा है कि हमारे कुलमें भगवद्भक्ति ही प्रधान है, तुम भी उसीका अनुसरण करो, कलंकरूप न हो। (मा० त० सु०)

टिप्पणी—४ (क) *'पाइ सुअवसरु'* इति। अवसर जानकर विभीषणजी आये थे और सुअवसर जानकर बात कही। भाव यह कि आनेका अवसर तो अपने अधीन था, इससे अवसर जानकर आये और 'सुअवसर' पराधीन है। जब रावण पूछे, तब बात कहनेका अवसर मिले; इसीसे *'सुअवसर'* कहा। (ख)—'तुरत' से जनाया कि पुलस्त्यजीका शिष्य अभी कह गया है, वैसे ही मैं आपके पास आया और शीघ्र ही संदेश सुना दिया। शीघ्र सुनानेमें तात्पर्य यह कि न जाने बात कुछ जरूरी हो और उसके न कहनेसे या उसमें बिलंब करनेसे कदाचित् कोई हानि हो जाय (तो पीछे न कहनेवालेको बड़ा पश्चात्ताप हो)। संदेशमें बिलंब न करना चाहिये, यथा—*'तुरत नाइ लछिमन पद माथा। चले दूत बरनत गुन गाथा॥'* (५। ५३) शुकसारन लक्ष्मणजीका संदेश लेकर 'तुरत' अपने स्वामी रावणके पास गये और संदेश सुनाया) अथवा कल्याणकारी संदेश शीघ्र ही कह देना चाहिये। कुछ बिगड़ गया, तब पीछे कहनेसे क्या होगा? वा, मन्त्री भय और आशावश प्रिय बोलते हैं, जिससे वेगि ही नाश होनेवाला है; यह समझकर नाश बचानेके लिये तुरत ही कहा। वा, *'राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिही नास'*, अतः इनका नाश न हो इस विचारसे तुरत कहा। (ग)—पुलस्त्यजीने स्वयं आकर न कहा, क्योंकि रावण हठी है, अपना नाती (पौत्र) है, कहा न मानेगा तो अपना अपमान होगा। इसीसे शिष्यसे संदेश विभीषणजीके पास भेजा। अपमानकी शंकासे ही शिष्यको रावणके पास न भेजा।

टिप्पणी—५ इस प्रसंगमें प्रभुके नाम, रूप, लीला और धाम चारों कहे गये। यथा—*'तात राम नहिं नर भूपाला'* से *'कृपासिंधु मानुषतनुधारी'* तक रूप कहा—(१)। *'जनरंजन भंजन खलब्राता। बेद धर्म रक्षक सुरत्राता॥'* यह लीला है—(२)। *'जासु नाम त्रयताप नसावन'* यह नाम है—(३)। और *'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस'* यह धाम है। *'कोसलाधीस'* से जनाया कि कोशलपुरी अयोध्या उनका धाम है। विभीषणजीने चारों समझाये, पूर्ण उपदेश दिया, *'तात'* से प्रारम्भ करके *'तात'* पर समाप्ति की—सन्देशकी शिक्षा दिखायी।

माल्यवंत अति सचिव सयाना। तासु बचन सुनि अति सुख माना॥ १॥
तात अनुज तव नीति बिभूषन। सो उर धरहु जो कहत बिभीषन*॥ २॥

अर्थ—माल्यवन्त अत्यन्त चतुर एवं वृद्ध मन्त्री है, उसने विभीषणजीके वचन सुनकर अत्यन्त सुख माना॥ १॥ (और रावणसे बोला—) हे तात! तुम्हारा छोटा भाई नीति-विभूषण है, अतः जो विभीषण कहते हैं, उसे हृदयमें धारण करो॥ २॥

टिप्पणी—१ *'अति सयाना'*=अति वृद्ध; यथा—*'माल्यवंत अति जरठ निसाचर।'* (६। ४७) यह रावणकी माताका पिता है। रावणको इकहत्तर चतुर्युगसे अधिक काल राज्य करते हो गया। उसके न जाने कितने पूर्वका माल्यवान् है, इसीसे उसका अत्यन्त वयोवृद्ध होना स्पष्ट है। वृद्धका भाव कि बहुत दिनोंका है, वह बहुत बातें जानता है। अथवा, *'सयाना'*=नीतिमें निपुण, नीतिका ज्ञाता; यथा—*'बोला बचन नीति अति*

* (१) पायकुलक, 'तात……' पंक अवली, 'सौं—' १२१९ वाँ भेद। (ब्र० चं०)।

पावन।' (६। ४७)—(वाल्मीकिजीने इसे 'महाप्राज्ञ' और अध्यात्ममें **'बुद्धिमान्नीतिनिपुणः'** और वृद्ध कहा है—**'ततः समागमद् वृद्धो माल्यवान् राक्षसो महान्। बुद्धिमान्नीतिनिपुणो राज्ञो मातुः प्रियः पिता॥'** (६। ५। २५)—ये सब भाव ***'अति सचिव सयाना'*** के हैं। पंडित और शास्त्रतत्त्वज्ञ भी कहा गया है।) (ख) ***'अति सुख माना'***; क्योंकि अति सयाना है। वा, मंत्रियोंके वचन सुनकर इसे अत्यन्त दुःख हुआ था, अब इनके वचन सुनकर अत्यन्त सुख हुआ। रावण के भयसे किसी और मन्त्रीने यह नहीं कहा कि विभीषणने अच्छी राय दी है। (ग) पूर्व जब रावणने हनुमान्‌जीके वधकी आज्ञा दी थी और विभीषणजीने आकर प्रार्थना की थी कि ***'आन दंड कुछ करिय गोसाँई'*** तब ***'सब ही कहा मंत्र भल भाई',*** पर यहाँ ऐसा न कहा। कारण कि वह मन्त्र रावणके अनुकूल था, उसमें दण्ड देनेका निषेध नहीं था, केवल ***'अन्य दंड'*** का मन्त्र था। और, यहाँ विभीषणजी सीताजीको दे देनेकी राय देते हैं जो उसके मनके प्रतिकूल है, इसीसे इसमें किसीने 'हाँ' न की। विभीषण राजाका भाई है, इसीसे सब चुप रहे, किसीने कुछ बुरा या भला न कहा।

टिप्पणी—२ ***'तात अनुज तव नीति बिभूषन.........'*** इति। (क) माल्यवान्‌ने विभीषणजीके वचनोंका अनुमोदन किया जिससे उनकी रायकी पुष्टि हुई। यदि सभी चुप रहते, कोई प्रशंसा या समर्थन न करता तो धर्मकी हानि थी। नीति है कि कोई उत्तम बात सुने तो अवश्य प्रशंसा करे, नहीं तो सुननेवाला दोषका भागी होता है। यह नीतिमें अति चतुर है, अतः इसने प्रशंसा की। ***'नीति बिभूषन'*** अर्थात् इनके द्वारा नीति शोभा पा रही है; पुनः भाव कि विभीषण नीतिसे विशेष भूषित हैं। (ग) नीतिकी प्रशंसा करनेका भाव यह है कि विभीषणजीने केवल नीति कही है। बड़ेसे वैर करना नीतिविरुद्ध है, इसीसे रामजीकी बड़ाई दिखा-दिखाकर वैर छोड़नेको कहा है। (घ) ***'तव अनुज'*** का भाव कि तुम्हारा छोटा भाई है और नीति कहता है; इसका मान रखो, यही बात आगे विभीषणजी स्वयं कहेंगे, यथा—***'तात चरन गहि माँगउँ राखहु मोर दुलार।'*** [***'अनुज'*** का भाव कि तुम्हारे पीछे-पीछे गमन करनेवाला है; अतः तुम्हारा विशेष कल्याणकारक है और तुम्हारे कल्याणसे अपना कल्याण मानता है। (मा० त० सु०)। विभीषणजीने मानमदादिको छोड़कर भगवत्-शरणागतिका उपदेश दिया, इसीसे ***'नीतिबिभूषन'*** कहा, यथा—***'नीतिनिपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना॥'......'जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥'*** (७। १२६); और माल्यवंतने इनका अनुमोदन किया है, इसीसे उसको ***'अति सयाना'*** कहा गया। वाल्मी० ६। ३५ में माल्यवान्‌ने भी यही नीति कही है कि 'शत्रु कैसा भी हो उसे तुच्छ न मानना चाहिये। प्रबल शत्रुसे सन्धि कर लेना चाहिये। चढ़ाई 'सीता' के लिये ही है। उनको दे देनेमात्रसे सबका कल्याण है।' यही बात विभीषणने कही है। इसीसे उनको ***'नितिविभूषन'*** कहा।] (ङ) ***'सो उर धरहु.........'*** अर्थात् जो अन्य मन्त्रियोंने कहा है उसे हृदयमें न धरो—***'नीतिबिरोध न करिय प्रभु मंत्रिन्ह अति थोरि।'*** (लं० ९); इनके वचन ग्रहण करो।

रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ॥ ३॥
माल्यवंत गृह गएउ बहोरी। कहइ बिभीषन पुनि कर जोरी॥ ४॥

अर्थ—(रावण बिगड़ उठा और बोला—) ये दोनों शठ शत्रुकी बड़ाई करते हैं। इन्हें दूर (क्यों) नहीं करते? (अरे) यहाँ कोई है?॥ ३॥ तब माल्यवंत (तो) अपने घर चला गया, विभीषण पुनः हाथ जोड़कर फिर कहने लगे॥ ४॥

नोट—१ माल्यवान्‌का इस सभामें होना और विभीषणजीके वचनोंका समर्थन करना वाल्मीकीय, अध्यात्म, हनुमन्नाटक आदि कई ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता। उसका रावणको समझाना युद्ध छिड़ जानेपर अथवा श्रीरामजीके लङ्कामें पहुँच जानेपर ही मिलता है। विभीषणजी इसके पूर्व ही श्रीरामजीकी शरणमें जा चुके थे।

नोट—२ ***'रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ'*** इति। भाव यह है कि मैंने शत्रुओंको जीतकर जो अतुलित यश प्राप्त किया है, जिससे त्रैलोक्य मेरा सम्मान कर रहा है, वह मेरा सौभाग्य इन दोनोंको अच्छा नहीं लगता। मुखिया, कार्यसाधक, विद्वान् और महात्माका कुटुम्बवाले सदा अपमान ही किया करते हैं और उनमें जो शूरवीर होता है, उसका वे तिरस्कार करना चाहते हैं—इसीसे ये शत्रुका उत्कर्ष कहते हैं। यथा—**'ततो**

नेष्टमिदं सौम्य यदहं लोकसत्कृतः। ऐश्वर्यमभिजातश्च रिपूणां मूर्ध्नि च स्थितः।' (वाल्मी० ६। १६। १०), **'प्रधानं साधकं वैद्यं धर्मशीलं च राक्षस। ज्ञातयोऽप्यवमन्यन्ते शूरं परिभवन्ति च॥'** (वाल्मी० ६। १६। ४)—यह रावणने विभीषणजीसे कहा है। पुनः वाल्मी० ६। ३६ में जो रावणने माल्यवान्‌से कहा है कि 'शत्रुका पक्ष लेकर तुमने कठोर वचन कहे। पंडित और शास्त्रतत्त्वज्ञ मन्त्री प्रभावशाली राजाको उत्साहित करनेके सिवा ऐसी बातें नहीं कहते। मैं राक्षसराज देवताओंका भयदाता हूँ, पराक्रमी हूँ, तुम मुझे कैसे हीन समझते हो? रामको तुम सामर्थ्यवान् कैसे समझते हो? पिताने उसे निकाल दिया, वह वनवासी है और वानरोंके अधीन है? मुझे तुमपर सन्देह हो रहा है। क्या तुम्हें मेरी वीरतासे द्वेष है अथवा शत्रुके पक्षपाती हो?'—**'वीरद्वेषेण वा शंके पक्षपातेन वा रिपोः।'** (वाल्मी० ६। ३६। ६) तथा **'रामेण प्रेषितो नूनं भाषसे त्वमनर्गलम्॥'** (६। ५। ३९) जो अध्यात्ममें कहा वह सब भाव यहाँ *'रिपु.....'* में आ गये।

टिप्पणी—१ (क) *'रिपु उतकर्ष कहत सठ······'* इति। अर्थात् ये दोनों शत्रुसे मिले हुए हैं, इसीसे उसका उत्कर्ष कहते हैं, अतः शठ हैं। शत्रुसे मिले हैं, सभामें बैठने योग्य नहीं हैं, अतएव यहाँसे निकाल दो। (ख) इस प्रकार विभीषणजीके सब वचनोंको उसने *'उत्कर्ष'* कहकर जनाया कि यह सब झूठ है, सत्य नहीं है; यथा—*'जिन्ह कै कीन्हेसि बहुत बड़ाई। देखौं मैं तिन्ह कै प्रभुताई॥'* (५। २५)

टिप्पणी—२ (क) *'इहाँ हइ कोऊ'* का भाव कि जान पड़ता है कि यहाँ कोई है ही नहीं, जो ऐसी बातें सुन रहे हैं और बोलते नहीं; देखो तो जब हमारी प्रशंसा मन्त्रियोंने की तब यह बुड्ढा न बोला और जब शत्रुकी बड़ाई सुनी तब प्रसन्न हो गया; अतएव ये दोनों *'शठ'* हैं। (ख) शत्रुकी बड़ाई न सुननी चाहिये, उसका सुनना नीतिविरुद्ध है, अतः क्रोध किया, यथा—*'आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे॥'* (६। २९) (यह रावणने अंगदजीसे कहा है) [यथा—**'रिपूणां प्रतिकूलानां युद्धार्थमभिवर्तताम्। उभाभ्यां सदृशं नाम वक्तुमप्रस्तवे स्तवम्॥'** (वाल्मी० ६। २९। ८) शत्रुदलकी प्रशंसा करनेपर रावणने शुकसारणसे यह कहा है कि युद्धके लिये प्रस्तुत एवं अपने विरोधी शत्रुओंकी इस प्रकार अनवसर प्रशंसा करना क्या तुम दोनोंको उचित था?]

नोट—३ *'दूर न करहु'* का भाव कि जैसे इसके वचन सुनकर माल्यवान् इसका पक्षपाती हो गया वैसे ही और भी कोई न हो जावें। *'इहाँ हइ कोऊ'* अर्थात् क्या सभी इसके मतके अनुयायी तो नहीं हो गये जो कोई बोलता भी नहीं? क्या सभी इसके पक्षके हो गये? (मा० त० सु०)

इसमें भाव यह है कि कोई शत्रु या विषैले सर्पके साथ भले ही रह ले किंतु शत्रुके पक्षपाती मित्ररूपी शत्रुके साथ कभी न रहे।······स्वार्थपरायण एवं भयंकर अपने जातिवालोंसे डरना चाहिये। सब भयोंसे बढ़कर भाई-बिरादरीवालोंका भय कष्टदायक है, क्योंकि ये ही शत्रुको पराजयका उपाय बताते हैं। यथा—**'वसेत्सह सपत्नेन क्रुद्धेनाशीविषेण वा। न तु मित्रप्रवादेन संवसेच्छत्रुसेविना॥'**; **'नाग्निर्नान्यानि शस्त्राणि न नः पाशा भयावहाः। घोराः स्वार्थप्रयुक्तास्तु ज्ञातयो नो भयावहाः॥ उपायमेते वक्ष्यन्ति ग्रहणे नात्रसंशयः। कृत्स्नाद्भयाज्ज्ञातिभयं सुकष्टं विदितं च नः॥'** (वाल्मी० ६। १६। ७-८)—(यह रावणने विभीषणजीसे कहा है। इसमें हाथीकी कही हुई नीति भी कही है। यह सब भाव *'दूर न करहु इहाँ हइ कोऊ'* कहकर जना दिये गये हैं)। पुनः भाव कि विभीषण भाई हैं और माल्यवान् वृद्ध हैं एवं नाना हैं; इसलिये इनके वधकी आज्ञा नहीं दी, केवल नेत्रोंके सामनेसे हटानेको कहा। यथा—**'हन्यामहं त्विमौ पापौ शत्रुपक्षप्रशंसकौ।'** (वाल्मी० ६। २९। १३;) रावणवाक्य शुकसारणप्रति। **'गच्छ वृद्धोऽसि बन्धुस्त्वं सोढं सर्वं त्वयोदितम्॥'** (अध्यात्म ६। ५। ३९) अर्थात् शत्रु-पक्षकी प्रशंसा करनेवाले तुम दोनोंको मैं अवश्य मार डालता॥ १३॥ जाओ, तुम बुड्ढे हो और मेरे सगे-सम्बन्धी हो, इससे मैंने सह लिया॥ ३९॥ अब तुम मेरे सामनेसे हट जाओ—**'अपध्वंसत गच्छध्वं सन्निकर्षादितो मम।······'** (वाल्मी० ६। २९। १४) शत्रुके पक्षपातीकी सजा प्राणदण्ड है।

टिप्पणी—३ *'माल्यवंत गृह गयउ बहोरी.......।'* (क) माल्यवान् बड़ा सयाना है, आप ही उठकर चल दिया। क्योंकि दूसरा कोई पकड़कर उठा देता तो बड़ा अपमान होता। (ख) विभीषण सन्त हैं।

इनको मान, अपमान, क्रोध आदि कुछ भी नहीं हैं। रावणके हितपर ही इनकी दृष्टि है; इसीसे वे पुनः हाथ जोड़कर कहते हैं, यथा—*'अति दयाल गुर स्वल्प न क्रोधा। पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा॥'*—(उ० १०६)। [हितैषी भाईका यही कर्तव्य है कि वह सदैव हितकी बात कहे।' बन्धुभाव और भ्रातृस्नेहसे प्रेरित हो वे बारम्बार कह रहे हैं। यथा—'**अवश्यं तु हितं वाच्यं सर्वावस्थं मया तव। बन्धुभावादभिहितं भ्रातृस्नेहाच्च पार्थिव॥**' (वाल्मी० ६। ६३। ३२-३३;) कुम्भकर्ण वाक्य रावणप्रति] (ग) *'गएउ बहोरी'* का भाव कि जब मन्त्रियोंने कुमन्त्र दिया था तब उसे अच्छा न लगा था, वह उठकर चला गया था, परंतु जब विभीषणजी आये तब वह फिर आया था कि ये अच्छी राय देंगे, उसे सुनकर मैं भी समर्थन करूँगा। अतः अब उसका फिर जाना कहा। (घ) *'पुनि कर जोरी'* से जनाया कि प्रथम जब बोले थे तब भी हाथ जोड़े थे। (अथवा, *'पुनि' 'कहइ'*-का क्रिया-विशेषण है)।

वि० त्रि०—*'माल्यवंत''''''कर जोरी'* इति। तत्पश्चात् माल्यवान् घर चले गये। *'बहोरी'* शब्द 'तत्पश्चात्' के अर्थमें भी आता है, यथा—*'प्रनवौं पुर नर नारि बहोरी', 'बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम। प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम॥'* इत्यादि। माल्यवान् जानते थे कि यदि मैंने जानेमें देर की तो निश्चय ही निकाल दिया जाऊँगा। अतः अप्रतिष्ठाके डरसे उठके चले गये। विभीषणको सम्बन्ध-प्रागल्भ्य था, समझते थे कि दूसरे किसीकी मजाल नहीं है जो मुझे निकाले और साथ-ही-साथ यह बात भी थी कि कुलके सर्वनाशका प्रश्न उपस्थित था, विभीषणजी तुल गये थे कि चाहे जो हो, आज मैं कहनेमें कसर न करूँगा। आज ही तो सीताहरण-विषयकी राय पूछी जा रही है, आज ही भविष्यत् कार्यक्रम निर्णय होने जा रहा है, आज न कहूँगा तो फिर कब कहूँगा! युद्ध आरम्भ हो जानेपर तो फिर समझाने-बुझानेका अवसर न रह जायगा। अतः रावणके क्रोधका ख्यालका न करके विभीषणजी फिर हाथ जोड़कर बोले।

प० प० प्र०—विभीषणजी नहीं गये और न किसीने उनको निकाला। रावणकी आँखोंके सामने सभी सभाने उसकी आज्ञाका भंग किया, ऐसा क्यों? कारण कि सभी लोग त्रिजटाके स्वप्न और उसकी सत्यता *'बानर लंका जारी'* देखकर समझ गये हैं कि *'लंका बिभीषन पाई'*; अतएव उनसे विरोध करनेका साहस स्वार्थी सभासदोंसे कैसे हो सकता है! [यह भी इससे जान पड़ता है कि भीतर-भीतर सब विभीषणजीसे सहमत थे और फिर यह रावणका दुलरवा भाई ही तो था।]

सुमति कुमति सब के उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं*॥ ५॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥ ६॥
तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता॥ ७॥
काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीतापर प्रीति घनेरी॥ ८॥

अर्थ—हे नाथ! वेद-पुराण ऐसा कहते हैं कि—सुमति और कुमति सबके हृदयमें रहती हैं॥ ५॥ जहाँ सुमति है वहाँ अनेक प्रकारकी सम्पत्ति रहती है और जहाँ कुमति है वहाँ अन्तमें विपत्ति ही है (वा, विपत्ति है और नाश)॥ ६॥ तुम्हारे हृदयमें विपरीत कुमति बसी है (इसीसे तुम) उलटा मानते हो—हितको अनहित और शत्रुको मित्र मानते हो॥ ७॥ जो राक्षसकुलकी कालरात्रि है उस सीतापर तुम्हें घनी (बहुत) प्रीति है॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'सुमति कुमति सब के उर रहहीं'* इति। (क) इस कथनसे पाया गया कि रावणने विभीषण और माल्यवान् दोनोंको *'कुमति'* कहा। इसीपर विभीषणजी कहते हैं कि किसीके कहनेमात्रसे कुमति या सुमति नहीं होती। उनका तो चिह्न यह है कि जहाँ सुमति है वहाँ नाना सम्पत्ति है और जहाँ कुमति है वहाँ विपत्ति है। *'उर रहहीं'* अर्थात् प्रकट नहीं देख पड़ती। भीतर ही छिपी रहती हैं। *'उर रहहीं'* यथा—*'सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।'* (१। ३६। १)

* ब्र० चं०—रहई, कहई। 'तव' चण्डी, शेष सब पायकुलक।

टिप्पणी—२ *'बिपति निदाना'*=विपत्ति और नाश। यथा—*'काहे करसि निदानु'* (अ० ३६), *'देहि अगिनि तन करहि निदाना।'* (५। १२) आगे क्रमसे पहले विपत्ति, फिर नाश कह रहे हैं—*'तव उर कुमति बसी बिपरीता……।'* इससे निश्चय है कि विपत्ति पड़ेगी। और *'काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीतापर प्रीति घनेरी॥'* जो आगे कहा है, उससे निश्चय कराते हैं कि नाश होगा। प्रथम कुमति होती है तब नाश, अतएव यहाँ प्रथम कुमति कहकर तब नाश कहा।

नोट—१ *'जहाँ सुमति तहँ संपति……'* इति। सबके सम्पत्ति और आपत्तिके ये ही दो कारण हैं। यथा—**'सर्वस्य द्वे सुमतिकुमती संपदापत्तिहेतू।'** (भो० प्र० सुभाषित रत्नाकर, समस्या पूरणे १६) सुमतिसे सम्पत्ति बढ़ती है। यथा—*'सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥ बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥'* (७। १२२। १०,११), यह दैवी सम्पत्ति बढ़ती है और लौकिक सम्पत्ति इससे अचल होकर रहती है। कुमतिसे विपत्ति होती है। यथा—*'काईं कुमति केकई केरी। परी जासु फल बिपति घनेरी॥'* (१। ४१। ८), *'बिपतिबीज बरषारितु चेरी। भुइँ भइ कुमति कैकई केरी॥'* (२। २३। ५)

वि० त्रि०—*'तव उर कुमति……'* इति। सात्त्विकी बुद्धि ही सुमति है, राजसी बुद्धि कुमति है। कुमतिमें धर्म-अधर्म तथा कार्याकार्यका यथावत् ज्ञान नहीं होता, यथा—**'यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च। अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥'** (गीता० १८। ३१) और तामसी बुद्धि विपरीता कुमति है। जो तमोगुणसे ढकी हुई बुद्धि अधर्मको ही धर्म मानती है, सब अर्थको ही उलटा देखती है, वह बुद्धि तामसी है। यथा—**'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥'** (१८। ३२)

नोट—२ वाल्मी० में भी विभीषणजीने सभामें कहा है कि हमारे राजा ही कुबुद्धिके वश हुए हैं और तुम लोग इनके मित्ररूप अमित्र हो। यथा—**'अयं हि राजा व्यसनाभिभूतो मित्रैरमित्रप्रतिमैर्भवद्भिः।'** (६। १४। १७)

टिप्पणी—३ *'तव उर कुमति बसी……'* इति। *'तव उर'* का भाव कि सबके उरमें दोनोंका वास है, पर तुम्हारे हृदयमें *'कुमति'* बसी है जिसका चिह्न है कि तुम *'हित अनहित मानहु………।'* हमने हित कहा सो हमें शत्रु मानते हो और जो अनहित कहते हैं वे वस्तुतः शत्रु हैं पर उन्हें प्रिय मानते हो। —[वंदनपाठकजी,—पुलस्त्यजी पितामह हैं, माल्यवंत नाना हैं और मैं भाई हूँ, सो हम तीनों हित हैं। उनको अहित मानते हो और मन्त्री ठकुरसोहाती कहते हैं वे अहित हैं, पुनः सीता रिपु हैं। तुम इन दोनोंपर प्रीति करते हो।] इसका तात्पर्य है कि औरोंकी कुमतिसे विपत्ति होती है पर तुम्हारी कुमतिसे तुम्हारे कुलभरका नाश होगा। *'बिपरीता मानहुँ'*, यथा-*'हितपर बढ़ै बिरोध जब अनहितपर अनुराग। रामबिमुख बिधि बामगति सगुन अवाइ अभाग॥'*—(दोहावली ४२०), *'काल दंड गहि काहु न मारा। हरै धर्म बल बुद्धि बिचारा॥'* [☞ रावणकी बुद्धिकी विपरीतता दिखाकर आगे उसके आचरणकी विपरीतता दिखाते हैं। (मा० त० सु०)]

टिप्पणी—४ *'काल राति०'* का भाव की सब रातें निशाचरोंको सुखदायी हैं। पर कालरात्रि सुखदायी नहीं होती, उसमें तो नाश ही होता है। वैसे ही सब स्त्रियाँ तुमको सुखदायी हुईं पर सीता तुमको नाश करनेवाली हैं। यथा—*'तजि जानकी कुसल गृह जाहू। नाहित अस होइहि बहु बाहू।'………'होइहि सकल सलभ कुल तोरा'*, *'तव कुलकमलबिपिन दुखदाई। सीता सीतनिसा सम आई॥'* (३६। ९) अन्तमें मन्दोदरीके वचनोंमें इसका चरितार्थ है, यथा—*'रामबिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा॥'* (६। १०३)

नोट—३ (क) ऐसा ही वाल्मीकीयमें हनुमान्‌जीका वाक्य रावणके प्रति है-यथा-**'यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते गृहे। कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलंकाविनाशिनीम्॥'** (५। ५१। ३४) अर्थात् तेरे घरमें जो सीता हैं इन्हें तू सम्पूर्ण लंकाको विनाश करनेवाली कालरात्रि समझ। (ख) कालरात्रिके अर्थ और भाव अ० ८३ (५) *'मानहुँ कालराति अँधिआरी'* में देखिये। (ग) 'सीता' वह रात्रि है जिसमें काल प्राणीको मारने आता है। रात प्रथम आती है, तब काल आता है वैसे ही सीताजी प्रथम आ गयीं, पीछे काल आ रहा है। श्रीरामजी कालरूप हैं, यथा—*'काल रूप तिन्ह कर मैं भ्राता।'* *'भुवनेस्वर कालहु कर काला।'* (शीला)

प्र०—निशिचर है, अतः इन्हें निशिरूपसे आयी हैं जिसमें वे प्रीति करें।

दो०—तात चरन गहि माँगौं राखहु मोर दुलार।
सीता देहु राम कहुँ अहित न होइ तुम्हार॥ ४०॥
बुध पुरान श्रुति संमत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी*॥ १॥

अर्थ—हे तात! मैं आपके चरण पकड़कर आपसे माँगता हूँ कि मेरा दुलार (लाड़-प्यार) रखिये। श्रीरामचन्द्रजीको सीता दे दीजिये, आपका अहित न होगा॥ ४०॥ विभीषणजीने बुध (पण्डित)-पुराण वेद-सम्मत वचनसे नीति बखानकर कही॥ १॥

नोट—१ *'चरन गहि'* का भाव कि यद्यपि आप मुझे दूर करना चाहते हैं तथापि मैं तो आपके चरणोंके आश्रित हूँ, आप बड़े भाई होनेसे पिताके समान हैं; यही आगे कहा—*'तुम्ह पितु सरिस……'*। *'माँगौं'* वात्सल्य भावसे कहा। जैसे बच्चा मचलकर पैर पकड़ता है।

वे० भू०—विभीषणको रावण मानता था—दुलार करता था, जिसका विभीषणको गर्व था। तभी तो कहते हैं—*'राखहु मोर दुलार।'* रावणके दुलार करनेका बहुत बड़ा कारण था। वह यह कि रावण तो अधिकतर—*'रन मद मत्त फिरै जग धावा।'* तथा कुम्भकर्ण छः महीनेसे पूर्व जग ही नहीं सकता था, जागता भी था तो कुछ देरके लिये ही और मेघनादके लिये तो भरी सभामें ही विभीषणजीने कहा था—**'न तात मन्त्रे तव निश्चयोऽस्ति बालस्त्वमद्याप्यविपक्वबुद्धिः।'** (वाल्मी० ६। १५। ९)।', अर्थात् बेटा! अभी भी तुम कच्ची बुद्धिवाले बच्चे हो; अभी राजमन्त्रणामें तुम्हारा कोई मूल्य नहीं। यही हाल रावणके सभी बेटे-पोतोंका कहा जा सकता है। अर्थात् उन नवजवानोंको खेलने-खाने, लड़ने-भिड़नेमात्रसे काम था। ऐसी दशामें रावणकी अनुपस्थितिमें लङ्काका राज्य विभीषणके ही निरीक्षणमें चलता था तभी तो रावणने कहा था—*'करत राज लंका सठ त्यागी।'*

टिप्पणी—१ (क) *'राखहुँ मोर दुलार'* इति। पुलस्त्यजीने अपनी ओरसे सीताजीको देने और भजन करनेको कहा। ☞ विभीषणजीने उनका वह संदेश आकर कहा। इसीसे रावणने सभासे निकाल देनेका हुक्म दिया। अतएव विभीषणजी अब अपना दुलार रखनेका वर माँगते हैं और भजन करनेको नहीं कहते। श्रीसीताजीको देनेके लिये चरण नहीं पकड़ते वरन् दुलार रखनेके लिये। यह दुलार रखना कठिन है; इसीसे पैर पकड़कर माँगते हैं। भाव यह कि सीताको अपनी ओरसे न दो वरन् हमारा दुलार रखनेके विचारसे दो। [*'दुलार'*=प्रसन्न करनेकी वह चेष्टा जो प्रेमके कारण लोग बच्चों या प्रेमपात्रोंके साथ करते हैं। लाड़-प्यार। भाव कि मैं छोटा भाई हूँ, पुत्रके समान हूँ। जैसे वात्सल्यके कारण माता-पिता पुत्रका स्नेह नहीं तोड़ते, जो वह माँगता है देकर प्रसन्न रखते हैं। इसी तरह मेरा स्नेह रखिये, जो मैं माँगता हूँ वही दीजिये। *'तात'* पद भी यहाँ स्नेह सूचक है।] (ख) इस प्रसङ्गमें दिखाया कि महात्मा लोग हाथ जोड़कर पाँव पकड़कर अहितसे बचाते हैं।

मा० त० सु०—*'अहित न होइ'* का भाव कि सीताजीको लौटा देनेसे यदि त्रिदेव भी तुमसे रुष्ट होंगे तो भी कुछ बुराई न होगी, क्योंकि *'सीम कि चापि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥'*

टिप्पणी—२ विभीषणजीने आदिसे अन्ततक अपनी साधुता निबाही। आदर, अनादर एवं चरणप्रहारसे भी वे विकारको न प्राप्त हुए—तीनों अवस्थाओंमें उसके चरण पकड़े और एकरस रहकर हितकी कहते रहे।

आदरमें	अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राता चरन सीस तेहि नावा॥	जौं कृपाल मोहि पूछिहु बाता। मति अनुरूप कहौं हित ताता॥
अनादरमें	तात चरन गहि माँगौं राखहु मोर दुलार॥ ४०॥	'दूर न करहु इहाँ है कोऊ' अनादर है, तो भी—'सीता देहु अहित न होइ' यही कहा।
मारनेपर	अस कहि कीन्हेसि चरनप्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा॥	तुम्ह पितु सरिस भले मोहि मारा। राम भजे हित होइ तुम्हारा॥

* ब्र० चं०—दो० ४० दोहरा। 'बुध०' द्रुतपा, 'कही०' और चौ० (२) पायकुलक।

नोट—२ 'सीता देहु……', '**धनानि रत्नानि विभूषणानि वासांसि दिव्यानि मणींश्च चित्रान्। सीतां च रामाय निवेद्य देवीं वसेम राजन्निह वीतशोकाः॥**' (६। १५। १४) अर्थात् धन, रत्न, वस्त्र, उत्तम भूषण और दिव्य मणियोंसहित तुम सीताको दे डालो। ऐसा होनेसे स्वच्छन्द शोकरहित होकर लङ्कापुरीमें बसे रहो। (ये वाक्य अन्तिम बारकी सभामें कहे हैं)।

टिप्पणी—३ बुध-पुराण-श्रुति-सम्मत, यथा—'***नाथ पुरान निगम अस कहहीं।***' बृहस्पति, शुक्र, याज्ञवल्क्य आदिकी नीतिसे मिली हुई है। (क) प्रथम जब वचन कहे थे तब माल्यवान्‌ने प्रशंसा की थी, अब यहाँ कोई प्रशंसा करनेवाला नहीं है और वाणी प्रशंसा योग्य है; इसलिये वक्ता लोग स्वयं ही प्रशंसा करने लगे। (ख) रावण वेदविरुद्ध चलता है और विभीषणजी वेद-सम्मत कहते हैं, इसीसे उसे नीति अच्छी न लगी जैसा आगे उसके वचनोंसे स्पष्ट है—'***मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती॥***' वेद-पुराण-कथनसे वह क्रुद्ध होता है, यथा—'***तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना।***' तथा यहाँ इनको मारनेको उठा, मारा और देशसे निकाल दिया।

नोट—३ '*बुध पुरान श्रुति संमत*' सभी वाणी है, फिर भी इस प्रकार विभाग भी किया जाता है—'*अवसर जानि बिभीषन आवा*' से '*मति अनुरूप कहउँ हित*' तक बुधसम्मत है, क्योंकि अवसर जानकर काम करना और पूछनेपर बोलना यह पण्डितोंकी रीति है। '***जो आपन चाहै कल्याना***' से '***भजहु भजहिं जेहि संत।***' तक पुराणसम्मत है, क्योंकि इन विषयोंको विशेषतासे पुराणोंने ही प्रतिपादित किया है। '***तात राम नहिं नर भूपाला***' से '***सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन***' तक श्रुतिसम्मत है, क्योंकि परमात्माके प्रतिपादनमें श्रुति ही प्रधान है और '***सुमति कुमति सबके उर रहहीं***' से '***सीता देहु राम कहँ***' तक बुध, पुराण-श्रुति तीनोंकी सम्मत वाणी एकत्र ही दिखायी। यहाँ '***बानी***' का सम्बन्ध बुध, पुराण, श्रुति और नीति चारों पदोंके साथ है। (मा० त० सु०)

नोट—४ वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि विभीषणजी इस प्रकारसे शुभदायक हितकारी वचन कहकर चुप हो रहे। ये वचन न्याययुक्त, महाअर्थसमन्वित, हेतुगर्भ, वर्तमान व भविष्यकालमें शुभकारी थे। यथा—'**रावणं राक्षसश्रेष्ठं पथ्यमेतद्विभीषणः। हितं महार्थं मृदु हेतुसंहितं व्यतीतकालायति संप्रतिक्षमम्**……।' (६। १०। २६-२७)

सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥ २॥
जियसि सदा सठ मोर जिआवा। रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा॥ ३॥

अर्थ—उसे सुनकर ही रावण क्रुद्ध हो उठा (और बोला—) अरे दुष्ट! अब मृत्यु तेरे निकट आ गयी है॥ २॥ अरे शठ! तू सदासे मेरे जिलाये जीता रहा है (अर्थात् मेरे ही कारण तेरा जीवन वहन हो रहा है, मैंने ही बचपनसे तुझे पाला-पोसा) पर, अरे मूढ़! तुझे शत्रुका ही पक्ष भाता है। अर्थात् तू नमकहराम ही बना रहा॥ ३॥

नोट—१ '***दसानन उठा रिसाई***' हनुमन्नाटकमें रावणका वचन है कि मैं दसमुखवाला हूँ, इससे मैं सीताको न दूँगा। अर्थात् दसमुखवाला होकर एक मुखवालेको सीता कैसे दे सकता है? यही भाव यहाँ '*दसानन*……' का है। ऐसा कहकर उसने लात मारी। यथा—'**दशास्यस्तथापि सीतां न समर्पयामि।**' '**इति वामचरणेन विभीषणं ताडयामास।**' (अंक ७। ९९)

टिप्पणी—१ '*दसानन उठा रिसाई।*……' इति। (क) जब रावणने आज्ञा दी कि इनको यहाँसे निकला दो—'***दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ।***' (४०। ३), और कोई न उठा तब यह जानकर कि इन्हें निकालनेको कोई न उठेगा, वह स्वयं मारकर निकालनेको उठा। (ख)—सुनते ही क्रुद्ध हुआ। वक्ता लोग कहते हैं कि जो वाणी बुध-वेद-पुराण-सम्मत और नीति है और जिसे सुनकर भले लोग सुख मानते हैं—जैसे माल्यवान्‌ने सुख माना था, उसीको सुनकर रावणको क्रोध हो आया क्योंकि वह कालके वश है (यद्यपि वह उलटा ही समझता है और विभीषणको कालवश कहता है)। यथा—'***हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहुँ भेषज जैसे॥***' (६। १०। ५) ऐसा ही अध्यात्मरामायणमें कहा है, यथा—'शुभं

हितं पवित्रं च विभीषणवचः खलः। प्रतिजग्राह नैवासौ म्रियमाण इवौषधम्॥' (६। २। २) यहाँ 'पञ्चम विभावना अलङ्कार') है। (ग) ***'खल तोहि निकट मृत्यु अब आई'*** इति। जो विभीषणजीने कहा था कि ***'तव उर कुमति बसी बिपरीता'*** वह यहाँ प्रत्यक्ष देख पड़ रहा है क्योंकि स्वयं कालवश है और विभीषणको कालवश कहता है। अथवा, (घ) क्रोध हुआ; क्योंकि यह उसका स्वभाव है कि जो भी सीताजीके देनेकी बात कहता है उसीपर वह क्रोध करता और उसीको मारता है या मारनेको कहता है। यथा—***'जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही॥'*** (५७। ८;) शुकको, ***'परिहरि बैर देहु बैदेही।'''''ताके बचन बान सम लागे। करिया मुख करि जाहि अभागे॥ बूढ़ भएसि न त मरतेउँ तोही॥'*** (६। ४८;) माल्यवान्‌को तथा यहाँ विभीषणजीके कहनेपर कि ***'सीता देहु राम कहँ''''''*** इनपर क्रोध हुआ और इनको मारा—***'अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा'।***

नोट—२ श्रीहनुमान्‌जीसे भी उसने ऐसा ही कहा था ***'(मृत्यु निकट आई खल तोही।'*** (२४। ३।) जैसा विभीषणजीसे ***('खल तोहि निकट मृत्यु अब आई')*** दोनोंमें ***'खल मृत्यु, निकट, आई*** और ***तोही (तोहि)'*** शब्द हैं। केवल **'अब'** शब्द पूर्व सम्बन्धके कारण अधिक है जिसका इस मिलानमें होना न होना बराबर है। दोनोंके लिये एक-से शब्दोंका प्रयोग हुआ; क्योंकि दोनोंने रिपुका उत्कर्ष कहकर वैर छोड़ने, प्रभुकी शरण जाने, श्रीसीताजीको देनेको कहा था। श्रीहनुमान्‌जीके ***'तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजै', 'मोरे कहे जानकी दीजै', 'गए सरन प्रभु राखिहहिं तव अपराध बिसारि', 'लंका अचल राज तुम्ह करहू'*** इत्यादिकी जोड़में क्रमशः विभीषणजीके ***'ताहि बयरु तजि नाइअ माथा', 'राखहु मोर दुलार', 'सीता देहु राम कहँ'*** (एवं ***'देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही'), 'सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहिं लागा॥' 'अहित न होइ तुम्हार'*** इत्यादि वाक्य हैं। ☞इस मिलानसे यह भी सिद्ध होता है कि श्रीहनुमान्‌जीके मिलनका कितना प्रभाव भक्त विभीषणपर पड़ा। भगवान् श्रीरामके स्वरूपका वर्णन विस्तृत होनेसे हमने नहीं दिया। प्रेमी पाठक स्वयं मिला लें।

नोट—३ **'अब'** का भाव कि अभीतक छोटा भाई जानकर तरस देता रहा। एक बार कहनेपर छोड़ दिया, अब नहीं सह सकता, अतः मारूँगा।

नोट—४ मन्दोदरीसे कभी 'सीताजीके देनेकी बात' कहनेपर रुष्ट न हुआ, कारण कि ऐसा करता तो सम्भव था कि घरमें ही बाप-बेटोंहीमें फूट हो जाती। इस सम्बन्धमें पूर्व भी लिखा जा चुका है।

टिप्पणी—२ प्रथम जब कहा था कि ***'देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही। भजहुँ राम बिनु हेतु सनेही॥'*** तब चरण प्रहार न किया था, क्योंकि उन्होंने कहा था कि यह पुलस्त्यजीका संदेश है, इससे तब मारा न था; फिर भी उनके निकाले जानेकी आज्ञा दे दी थी। और, अब जो कहा कि ***'सीता देहुँ''''''*** यह विभीषणजीने अपनी ओरसे कहा, अतः मारा कि एक बार मना भी कर दिया तब भी तूने नहीं माना।

टिप्पणी—३ ***'जियसि सदा सठ मोर जियावा।''''''''''*** इति। (क) तात्पर्य कि मेरे जिलानेसे जीता है, मेरे मारनेसे मरेगा, तब उचित था कि मुझसे वैर न करता, यथा—***'तासों तात बयरु नहिं कीजै। मारें मरिय जियायें जीजै॥'*** (३। २५। ४); मारीचवाक्य। पर तुझे मेरे शत्रुका ही पक्ष सदा भाता है, अतएव तू मूढ़ है। मेरा शत्रु बनना चाहता है, अतः निश्चय है कि तेरा मरण निकट है। (ख) सदा मेरे जिलानेसे तेरा जीवन है, यह भी ***'कुमति बसी बिपरीता'*** का उदाहरण है। वस्तुतः विभीषणजीकी बदौलत उसका जीवन है, यथा—***'अस कहि चला बिभीषन जबहीं। आयूहीन भये सब तबहीं॥'*** (४२। १) 'सठ, मूढ़, खल' आप है और कहता है विभीषणको।

प्र०—***'जियसि मोर जियावा'*** का भाव कि तेरा आचरण निशिचरकुलके विपरीत होनेसे अबतक तुझे निशिचरोंने मार डाला होता, मेरे डरसे कोई तुझसे न बोला।

मा० त० सु०—मूढ़का भाव कि इतनेपर भी तू शत्रुका पक्ष ग्रहण किये है, कर्तव्यविचारशून्य होनेसे तू मूढ़ है।

नोट—५ मिलान कीजिये अ० रा० के **'कालेन नोदितो दैत्यो विभीषणमथाब्रवीत्। मद्दत्तभोगैः पुष्टाङ्गो मत्समीपे वसन्नपि॥ प्रतीपमाचरत्येष ममैव हितकारिणः। मित्रभावेन शत्रुर्मे जातो नास्त्यत्र संशयः॥'** (७। २। २८-२९) इन श्लोकोंसे। अर्थात् कालकी प्रेरणासे वह दैत्य विभीषणजीसे बोला कि मेरे ही दिये हुए भोगोंसे तेरा शरीर पला और पुष्ट हुआ, तू मेरे समीप बैठता है, पर मुझ अपने हितकारीके प्रतिकूल ही सदा तेरा आचरण रहता है। इसमें सन्देह नहीं कि तू मित्रभावद्वारा मेरा शत्रु उत्पन्न हुआ है।

नोट—६ वाल्मी० रा० में रावणने जो कहा है कि 'जातिवालों और उनमें विशेषकर प्रधान पञ्चगणविद्वान्, धार्मिक और वीर पुरुषोंका निरादर करते और उनको परास्त करनेके लिये सदा ही छिद्र ढूँढ़ा करते हैं और विपत्ति आनेपर वे हर्षित होते हैं। ऐसे स्वार्थपरायण लोगोंसे अत्यन्त भय रहता है। हमने जो अतुलनीय ऐश्वर्य प्राप्त किया है उससे त्रिलोकी हमारा आदर करता है, किंतु हमारा यह सौभाग्य ही तुम्हारे असन्तोषका कारण हुआ है। दुर्जनसे मित्रता निष्फल जाती है, वह अपना कार्य सिद्ध कर लेनेपर स्वयं ही पहलेवाले स्नेहको भूलकर मित्रताका नाश करता है। वैसा ही तू है। तेरे जीवनको धिक्कार है। तू हमारा सगा भाई होनेके कारण अबतक जीता है।' इत्यादि सब भाव *'जियसि सदा······भावा'* इन शब्दोंसे व्यक्त किया गया है। (वाल्मी० ६। १६। १-१६)

कहसि न खल अस को जग माहीं। भुज बल जाहि* जिता मैं नाहीं॥ ४॥
मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती॥ ५॥
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा॥ ६॥

अर्थ—अरे खल! कहता क्यों नहीं? संसारमें ऐसा कौन है जिसे मैंने अपनी भुजाओंके बलसे जीता न हो?॥ ४॥ मेरे नगरमें रहकर तपस्वियोंसे प्रीति रखता है (तो) अरे शठ! उनसे ही जाकर मिल और उन्हींसे नीति कह॥ ५॥ ऐसा कहकर चरणका प्रहार (आघात, मार) किया अर्थात् लात मारी। छोटे भाई विभीषणने बारंबार चरण ही पकड़े॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'कहसि न खल·······'* इति। (क) तू मूढ़ है; क्योंकि मेरे पराक्रमको नहीं समझता, निर्बल शत्रुको बलवान् समझता है। (ख) ***'कहसि न'*** का भाव कि शत्रुका बल कहता है और मेरा बल क्यों नहीं कहता? अतः तू खल है। नहीं तो क्यों न कहता कि मैंने किसे नहीं जीता—*'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसवर्ती नरनारी॥'* (१। १८२। १२) (ग) **'भुजबल'** अर्थात् अपने निज पुरुषार्थसे सेनाके बलसे नहीं, यथा—*'बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला॥'* (६। ८), *'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न स्वतन्त्र।'* (१। १८२)

टिप्पणी—२ *'मम पुर बसि........'* इति। (क) अर्थात् तू छलिया है। मेरे राज्यमें सुख करता मौज उड़ाता है और प्रीति तपस्वियोंसे करता है कि जहाँ कुछ सुख नहीं है। तो अवश्य तू आगे छल करेगा। तू शठ है; राज्यसुख भोग करने योग्य नहीं है, अतः तू तपस्वियोंसे जाकर मिल। वे नीति नहीं जानते, उन्हें जाकर नीति सिखा, हम तो सब नीति जानते हैं। (ख) *'कही बिभीषन नीति बखानी'* इसीकी जोड़में रावणका यह वचन है कि *'सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती'।*

रा० प०—सारी लङ्का जली, पर विभीषणका घर न जला, यह बात हृदयमें लाकर रावण क्रोधित होकर कह रहा है कि तेरी तपस्वियोंमें प्रीति है, मेल न होता तो तेरा भी घर क्यों न जलता?

वि० त्रि०—*'मम पुर बसि·······नीती।·······कहे पद बारहि बारा।'* इति। तू राजद्रोही है, बसता है मेरे पुरमें, और प्रीति तेरी तपस्वियोंपर है *'राखहु मोर दुलार'* कहकर उन्हींका हित चाह रहा है। मेरे पुरमें जो बसे उसे तपस्वियोंसे वैर रखना चाहिये, यथा—*'निसिचर निकर सकल मुनि खाए।'* जिसे तपस्वियोंसे प्रेम करना है, वह मेरा पुर छोड़ दे। यह तो सामान्य नियम है। यहाँ तो जिन तपस्वियोंपर तेरा प्रेम है, उनसे मेरी विशेषरूपसे शत्रुता है। शत्रुवर्गीका पुरमें रहना ठीक नहीं। अतः निकल जा मेरे पुरसे।

---

* जेहि जीता मैं—ना० प्र०।

यदि कहो कि मैं तो नीति कह रहा हूँ तो रावण कहते हैं कि मुझे तेरी नीतिकी आवश्यकता नहीं। तेरी ही नीतिसे मेरी लंका जली। अतः तू यहाँसे भाग जल्दी और अपने प्रेमी तपस्वियोंसे जाकर मिल जा और उन्हींको अपनी सत्यानाशी नीति बतला, जिसमें उनका सत्यानाश हो जाय।

रावणने देखा कि यह जाता नहीं है और इसे निकालनेका साहस दूसरेको नहीं। अतः मैं इसे स्वयं मारूँगा, बिना लात खाये यह न जायगा। अतः लात मारकर निकाला। रावणकी लात विभीषण ही सह सकते हैं। विभीषणजी साधु हैं, अतः उन्होंने बार-बार चरणोंको प्रणाम किया। यह प्रणाम लंका छोड़नेका, अर्थात् बिदाईका है।

वि० त्रि०—रावणके कहनेका भाव यह है कि 'तू मेरे पुरमें बसता है, मेरी प्रजा है, जैसे सब प्रजा वैसे ही तुम। प्रजाको राजाके अनुसार चलना चाहिये, हमारी सब प्रजा तपस्वियोंको खानेवाली है, यथा—'*निसिचर निकर सकल मुनि खाए।*' पर तेरा विचार ही स्वतन्त्र है, तू तपस्वियोंमें प्रेम करता है, अपनेको कुछ समझता है, मन्त्री साथमें लेकर राजाका स्वाँग बनाये है। निकल जा मेरे नगरसे, तेरी नीतिसे मुझे नाकोंदम है, तेरी नीतिने ही मेरी लंका जलायी। तू जा यहाँसे और उन तपस्वियोंसे मिल, उन्हें नीतिका उपदेश कर, वे ही सुनेंगे। विभीषण नहीं गये। तब लात मारी कि निकल यहाँसे। पर छोटे भाईके नाते विभीषणजी पैर ही पकड़ते रहे कि तुम भले मुझे लात मार लो, पर रामको भजो, इसीसे तुम्हारा कल्याण है, मैं अपने रहते तुम्हारा अमङ्गल नहीं होने दूँगा।

मा० त० सु०—(क) '*तिन्हहिं कहु नीती*' का भाव कि एक बार तो तूने नीति कहकर—'*नीति बिरोध न मारिय दूता*'—लंका भस्म कर दी, अब फिर नीति सिखाने आया है। पुनः, (ख) यह तेरा कहा हुआ धर्म उन्हींका है मेरा नहीं, यथा—'**अद्म द्विजान् देवयजो निहन्मः कुर्मः पुरं प्रेतनराधिवासम्**' इत्यादि। (ग) '*सठ मिलु जाइ*' का भाव कि नीति उनकी और मेल मुझसे, यही उभयविरोध तेरी शठता है।

वन्दनपाठकजी—उनको जाकर सिखावे। वे नीति नहीं जानते, इसीसे एक स्त्रीके कहनेपर राज्य छोड़ भागे। मैं नीति जानता हूँ, नहीं तो इतने दिन (७२ चौकड़ी) राज कैसे करता? वे वैष्णव और तू भी वैष्णव, अतः स्वपक्षमें जा मिल। यहाँ विभीषणको शारदा सहाय हुई जैसे हनुमान्‌जीको हुई थी—('*भइ सहाय सारद मैं जाना*') इसीसे रावणसे ऐसा कहला दिया।

टिप्पणी—३ '*अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा.........*' इति। (क) रावणने वचनसे कठोर कहा, तनसे मारा और मनसे त्याग किया। और विभीषणने बड़ा भाई समझकर उसके चरण ही पकड़े; जैसे बड़ा भाई जानकर अब भी लोग प्रणाम करते हैं। आदि-अन्तमें प्रणाम कहकर कवि दिखाते हैं कि आदिसे अन्ततक इसने अपनी साधुता निबाही। उदाहरण दोहा ४१ (१) टिप्पणी २ में आ चुके हैं। (ख) '**चरणप्रहार**' का भाव कि तू शत्रुके उपकारके लिये बार-बार मेरे चरण पकड़ता है इससे तुझे चरणप्रहारकी सजा देनी चाहिये। '*अनुज गहे पद बारहिं बारा*' का दूसरा भाव कि इन्हीं चरणोंकी कृपासे श्रीरामचरणकी प्राप्ति हुई, कुसंग छूटा।

नोट—१ रावणने विभीषणजीके हृदयपर लात मारी, यह गीतावलीसे स्पष्ट हो जाता है। यथा—'*तुलसी हुमकि हिये हन्यो लात भले तात चल्यो सुरतरु तकि तजि घोर धामहिं।*' (पद २५) बार-बार पाँव पकड़नेका भाव कि मेरा शरीर कठोर है, आपके चरण कोमल हैं, चोट लगी होगी। (दीनजी)

प० प० प्र०—ऊपरसे देखनेमें तो विभीषण-सरीखे संतका अपमान हुआ; पर व्यवहारमें जो घटना आज वर्तमानकालमें अनिष्ट, दुखदायक और अपमानकारक-सी देख पड़ती है, वही भविष्यमें परम इष्ट, परम सुखदायक और परम स्पृहणीय सिद्ध होती है। '**दुख सो सुख मानि सुखी चरिये।**', '**उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः। अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते॥**'

रावणके इस प्रसंगके वाक्योंसे कविसम्राट्‌ने विभीषणको पूर्ण निर्दोष बना दिया है। रावण बड़ा भाई है और '**ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः**'। अतः भाईके आज्ञानुसार '*(सठ) मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती*' लंकाका

त्याग करना आवश्यक ही था। कठोपनिषद्में नचिकेताके पिताने जब उनसे कहा कि 'मैंने तुझको यमराजको दे दिया।' तब बालक नचिकेता पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये यमराजके पास चले गये।

यहाँकि विभीषणजीके वाक्योंमें राज्यलोभकी गन्ध भी नहीं मिलती। यदि उनको राज्यका लोभ होता तो वे भाईसे प्रत्यक्ष विरोध न करके ही यहाँका सब भेद शत्रुको दे-देकर अपना स्वार्थ पूरा कर सकते थे।

प० प० प्र०—विभीषणजीका लंका त्याग मानसके ठौर-ठौरके वाक्योंके समन्वयसे यह स्पष्ट हो जाता है कि विभीषणजीने राजद्रोह या भ्रातृद्रोह नहीं किया और न उनको राज्यकी लालसा थी।

(१) विभीषणपर विश्वासघातका आरोप मन्दोदरी, रावण अथवा कुम्भकर्ण आदि किसीने भी नहीं किया। *'रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे। तैं सुर नर मुनि नाग बिरुद्धे॥'* (६। ९३। ५) विभीषणजीके ऐसा कहनेपर भी रावण कुछ न बोला।

(२) जब प्रहस्तने रावणसे कहा कि **'सीता देइ करहु पुनि प्रीती। नारि पाइ फिरि जाहिं जौं·······'** (६। ९) इत्यादि, तब भी रावणने विभीषणपर बन्धुद्रोह अथवा विश्वासघातका अपराध नहीं लगाया।

(३) रावणने शुकसे विभीषणजीके सम्बन्धमें प्रश्न किया कि *'पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी। जाहि मृत्यु आई अति नेरी॥ करत राज लंका सठ त्यागी। होइहि जव कर कीट अभागी॥'* (५३। ४); इसमें भी विभीषणको कोई कलंक नहीं लगाया, *'अभागी'* ही कहा है।

(४) कुम्भकर्णसे जब विभीषण रणभूमिमें जाकर मिलते हैं, देखिये तब कुम्भकर्ण क्या कहता है—*'धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयहु तात निसिचर कुल भूषन॥ बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा सुख सागर॥ बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रघुबीर।'* (६३) क्या विश्वासघाती, भ्रातृद्रोही वा राजद्रोहीको कोई ऐसा प्रशस्तिपत्र, धन्यवाद और शुभाशीर्वाद देता? वह तो कहता है कि तुमने रावणके वंशको उजागर कर दिया।

महात्मा गाँधी—विभीषणजीमें तो मैं कोई दोष नहीं पाता। विभीषणने अपने भाईके साथ सत्याग्रह किया था। विभीषणका दृष्टान्त हमें यह सिखाता है कि अपने देश या अपने शासकके दोषोंके प्रति सहानुभूति रखना या उन्हें छिपाना देशभक्तिके नामको जलाना है। इसके विपरीत देशके दोषोंका विरोध करना सच्ची देशभक्ति है। विभीषणजीने श्रीरामजीकी सहायता करके देशका भला ही किया था।

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥ ७॥
तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा। रामु भजे हित नाथ तुम्हारा॥ ८॥

अर्थ—(भगवान् शंकर कहते हैं—) हे उमा! संतकी यही बड़ाई है कि जो बुराई करनेपर भी भलाई करे॥ ७॥ (विभीषणजीने कहा) आप पिताके समान हैं, अच्छा किया जो मुझे मारा, पर हे नाथ! तुम्हारा भला रामभजनसे ही होगा॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'उमा संत कइ इहइ बड़ाई।·······'* इति। (क) भाव कि संतकी बड़ाई इसीमें होती है कि जो उनके साथ नीचता करे उसके साथ भी वे बुराईके बदलेमें भलाई ही करें। जैसे खलकी बड़ाई इसीमें है कि जो उसके साथ भलाई करता है उसके साथ भी वह नीचता करे। यथा—*'भलो भलाइहि पै लहै लहै निचाइहि नीच।'* (१। ५) ये दोनों बातें यहाँ देख पड़ीं। श्रीविभीषणजी साधुताकी सीमा हैं (रावणके चरणप्रहार करनेपर भी वे उसकी भलाई ही चाहते हैं, उसके हितको कहते रहे) और रावण खलताकी अवधि है (कि अपने हितैषीको शत्रु समझकर उसको निकाल दिया)। पुन: *'संत कइ इहइ बड़ाई'* का भाव कि शत्रुके साथ भी भलाई करना यह संतका ही काम है, इसमें संतकी ही बड़ाई है, दूसरे किसीकी नहीं। दूसरेमें तो यह गुण नहीं किंतु दोष माना जायगा। यथा—*'रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई॥'* (३। १९। १३); यह श्रीरामजीने कहा है, *'जो पै समर सुभट तव नाथा।'*·······*'रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा।'* (६। २८। ८); यह रावणने कहा। शत्रु राजाके साथ भलाई करनेवाले राजाकी निन्दा

ही होती है। मुहम्मद गोरीके साथ बार-बार भलाई करनेका फल भारतवर्षका नाश ही हुआ। पुनः, *'इहइ'* निश्चयात्मक वाक्य देकर सूचित किया कि ऐसा करनेमें ही उनकी प्रशंसा है, अन्यथा नहीं।

नोट—१ *'तुम्ह पितु सरिस'* इति। बड़ा भाई पिताके समान होता है, इसीसे *'पितु सरिस'* कहा। वाल्मी० रा० में भी कहा है **'स त्वं भ्रान्तोऽसि मे राजन्ब्रूहि मां यद्यदिच्छसि। ज्येष्ठो मान्यः पितृसमो (न च धर्मपथे स्थितः)।'** (६। १६। १९) पुनः यथा—**'धिक्करोषि तथापि त्वं ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः।'** (अध्यात्म० ६। २। ३४)

नोट—२ रावणके *'जियसि सदा सठ मोर जियावा'* का यह उत्तर है कि *'तुम्ह पितु सरिस'* अर्थात् आप पिताके समान हैं। और पिताका धर्म रक्षा ही करना है, यथा—**'पाति रक्षति इति पिता'**, आपने मुझे पाला-पोसा। अतएव मुझे मारा तो अच्छा किया और पुत्रका धर्म है कि 'पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते इति पुत्रः।'; अतएव कहा कि *'राम भजे हित नाथ तुम्हारा।'* (मा० त० सु०)

टिप्पणी—२ (क) *'भलेहि मोहि मारा'* इति। भाव कि आपके मारनेसे मेरा हित हुआ कि मुझे श्रीरामजी मिलेंगे, यथा—*'अंतहु भाव भलो भाई को कियो अनभलो मनाइ कै। भई कूबर की लात बिधाता राखी बात बनाइ कै॥ ना हित क्यों कुबेर घर मिलि हर हित कहते चित लाइकै। जो सुनि सरन राम ताके मैं निज बामता बिहाइ कै॥'* (गी० ५। २८); पर इससे आपका हित नहीं होनेका, आपका हित रामभजनसे ही होगा। (ख) विभीषणजी पूर्व जन्मके धर्मरुचि नामक मन्त्री हैं जैसे तब मन्त्रोपदेश करते थे, वैसे ही अब भी हितोपदेश और धर्म ही कहते हैं यथा—*'नृप हितकारक सचिव सयाना। नाम धर्मरुचि सुक्र समाना॥'* (१। १५४। १) विभीषणने पूर्व जन्ममें क्या धर्म कहा और कैसे हितकारक थे, क्या हित सिखाते थे, यह यहाँ कहा—*'रामभजे हित नाथ……।'* (ग) *'मति अनुरूप कहौं हित ताता।'* उपक्रम और *'राम भजे हित नाथ तुम्हारा'* उपसंहार है। आदिसे अन्ततक परमार्थ-उपदेश करके वेद-रीतिसे निर्दोष हुए। (घ) इस प्रसंगमें यह भी दिखाया कि श्रीविभीषणजीने सम्मान और अपमान, आदर और निरादर दोनोंमें समान भाव रखा, इसीसे उन्हें संत कहा—*'सम मान निरादर आदरही।'* रावणने सम्मति पूछकर इनका सम्मान दिखाया। यथा—*'जौं कृपाल पूँछिहु मोहि बाता।'* (३८। ४) और चरणप्रहार करके तिरस्कार किया। इन्होंने दोनों अवस्थाओंमें हित ही कहा। यथा—*'मति अनुरूप कहउँ हित ताता।'* (३८। ४), *'सुमति कुमति……अहित न होइ तुम्हारा॥' (४०), 'राम भजे हित नाथ तुम्हारा।'*

सचिव संग लै नभ पथ गएऊ। सबहि सुनाइ कहत अस भयऊ॥ ९॥

दो०—रामु सत्य संकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि।
मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि॥ ४१॥

अर्थ—(यह कहकर श्रीविभीषणजी) मन्त्रियोंको साथ लेकर आकाशमार्गमें गये और सबको सुनाकर ऐसा कहने लगे॥ ९॥ श्रीरामजी सत्यप्रतिज्ञ हैं, समर्थ हैं और तेरी सभा कालके वश है। मैं अब रघुवीरकी शरण जाता हूँ, मुझे अब दोष न देना॥ ४१॥

नोट—१ *'सचिव संग लै……'* इति। चारों मन्त्रियोंके नाम ये हैं—अनल, पनस, सम्पाति और प्रमति। यथा—**'अनलः पनसश्चैव सम्पातिः प्रमतिस्तथा।'** (वाल्मी० ६। ३७। ७) ये चारों विभीषणजीके परम हितैषी परमभक्त मन्त्री थे और उनके अनुकूल आचरण करनेवाले विश्वासपात्र थे। साथ ही ये बड़े विक्रमशाली थे और जब जैसा रूप चाहें धारण कर सकते थे। जैसा **'ये चाप्यनुचरास्तस्य चत्वारो भीमविक्रमाः।'** (६। १७। ३), **'खात्पपातावनिं हृष्टो भक्तैरनुचरैः सह।'** (वाल्मी० ६। १९। २) से स्पष्ट है। इनको साथ ले जानेका प्रधान कारण मेरी समझमें यह था कि सीताहरणसे लेकर अबतक मैं भगवान्‌की कुछ भी सेवा न कर सका। अब जब वे वानर-दल लेकर रावणवधके लिये आये हैं तब इस कार्यमें शक्तिभर उनकी सेवा करूँ। यह बात वाल्मीकीयके **'गत्वा लंकां ममामात्याः पुरीं पुनरिहागताः॥ भूत्वा शकुनयः सर्वे प्रविष्टाश्च रिपोर्बलम्। विधानं विहितं यच्च तद् दृष्ट्वा समुपस्थिताः॥'** (६। ३७। ७-८) विभीषणजीके

इस वाक्यसे सिद्ध होती है। युद्ध छिड़नेके पूर्व ही बिना किसीके कहे उन्होंने अपने चारों मन्त्रियोंको रावणका सारा विधान देख आनेके लिये भेजा था। वे पक्षी बनकर शत्रुकी सेनामें जाकर वहाँका सारा समाचार ले आये थे। इस तरह आगे भी मेघनाद और रावणके यज्ञों आदिका समाचार भी मन्त्रियोंद्वारा ही प्राप्त कर-करके इन्होंने श्रीरघुनाथजीकी सेवा की। मन्त्री साथ क्यों आये? एक कारण तो बताया गया कि वे विभीषणजीके परम भक्त अनुचर थे; साथ ही भगवद्भक्त भी थे। दूसरे, पुलस्त्यजीके संदेशसे वे जान गये थे कि भगवान् रावणका वध करनेके लिये अवतरित हुए हैं और उसका कुलसमेत वध निश्चित है। अतएव उसका वध होनेपर विभीषणजी अवश्य यहाँका राज्य पावेंगे, हम उनके मन्त्री हैं, अतः उनके राज्यमें सुख भोगनेको मिलेगा। यह लालच भी हो सकती है। फिर यदि विभीषणजी इनको साथ न लाते तो यह भी सम्भव था कि रावण उनपर विश्वास नहीं कर सकता था, उसे संदेह रहता कि ये शत्रुको यहाँका गुप्त समाचार देते रहेंगे, अतः या तो उनको मरवा डालता या युद्धमें उनको प्रथम ही जुझवा डालता। दोनों तरहसे इनके प्राण जाते। अतः साथ ले आये।

टिप्पणी—१ (क) *'सचिव संग लै......'* इति। **'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च'** (इत्यमरः।) अर्थात् राजा, मन्त्री, सुहृद्, कोष, देश, किला और सेना ये राजाके सात अंग हैं। इन सात अंगोंमेंसे प्रधान अंग मन्त्री है, यदि यह बना रहे तो बिगड़ा हुआ सब बन जाता है। यथा—*'तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।'*; इस कारण उसने *'पावा राज कोष पुर नारी।'* तथा विभीषणजीके साथ चार मन्त्री हैं। (ख) *'नभपथ गएऊ'*—देवता और राक्षस प्रायः आकाशमार्गसे चला करते हैं—(समुद्र-पार जानेमें आकाशमार्ग ही इनको सुगम होगा)। अथवा, सभा भारी है, इससे सबको सुनानेके लिये नभपर गये, ऊँचेपरसे सबको सुनायी पड़ेगा। अथवा रावणने जो कहा था कि *'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती'*, उसीसे नभमें गये कि हम अब लंका-पुरवासी नहीं हैं, हम राजा हैं, जब यह पुरी हमारी होगी तभी हम इसपर पैर रखेंगे। यह भाव *'उर कछु प्रथम बासना रही'* एवं गी० ५। ३० के *'राम गरीब निवाज निवाजिहैं जानिहैं ठाकुर ठाऊँ गो'* से निकलता है। (क) सबको सुनाकर लोकरीतिसे निर्दोष हुए।

नोट—२ बाबा जयरामदासजी लिखते हैं कि श्रीविभीषणजीको *'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती'* ये वचन सहन न हो सके; क्योंकि भक्तको अपना अपमान सहन हो सकता है, पर अपने इष्टके प्रति कहे हुए अपमानके वचन उनके मर्मको बेध डालते हैं। *'मम पुर'* से उसने अपनेको सम्राट् और विभीषणजीको अपने राज्यमें बसनेवाली साधारण प्रजा सूचित किया। एवं *'तपसिन्ह'* शब्दसे श्रीरामलक्ष्मणजीको गृहादिसे हीन, अनिकेत बतलाकर यह सूचित किया कि तू भी बिना घर-द्वारका बन जा। इसलिये विभीषणजीके अन्तःकरणमें यह स्फुरणा हुई कि देखें यह अब वास्तवमें किसका ठहरता है। जिस प्रभुका समस्त जगत् है उसे गृहहीन बताना और अपनेको राजा मानना! यदि भगवान्‌की विभूति सत्य है तो निश्चय है कि भगवान्‌का दास इसका अधिकारी बनेगा। इसी वासनाके अनुसार विभीषणजी *'सचिव संग लै नभ पथ गएऊ'*, अन्यथा भगवान्‌की शरणमें जानेके समय सचिवको साथ लेनेकी क्या आवश्यकता थी? इसी अभिप्रायको आगे चलकर गोस्वामीजीने *'उर कछु प्रथम बासना रही'* से व्यक्त कर दिया है।''

यद्यपि *'उर बासना'* का निराकरण भी श्रीरघुनाथजीकी सन्निधि प्राप्त होते ही हो गया और *'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं'* इस वचनसे भगवान्‌ने उसे स्वीकृत भी कर लिया, तथापि श्रीभगवान्‌ने *'मोर दरस अमोघ जग माहीं'*, *'अस कहि राम तिलक तेहि सारा।'*—इस प्रकार उस पुरको अपने दासका बनाकर ही छोड़ा और रावणके *'मम पुर'* असिद्ध कर दिया।

वाल्मी० तथा अ० रा० से पता चलता है कि विभीषणजी सभाके मध्यसे उड़कर आकाशमें गये, यथा—'**उत्पपात गदापाणिश्चतुर्भिः सह राक्षसैः।**' (वाल्मी० ६। १६। १६), '**उत्पपात सभामध्याद् गदापाणिर्महाबलः।**' (अ० रा० ६। २। ३२) वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि उस कालमें व्योमयानोंकी भरमार थी। महर्षि भरद्वाजजीने अपने 'आशुबोधिनी' ग्रन्थमें आठ प्रकारके व्योमयानोंकी चर्चा की है।

'आशुबोधिनी' के-'**शक्त्युद्गमाद्यष्टौ**' इस सूत्रपर वृत्ति करते हुए भगवान् ब्रोधायन पुरुषोत्तमाचार्यजीने आठोंका नाम-भेद बतलाया है कि—'**शक्त्युद्गमो भूतबाहो धूमयानः शिखोद्गमः। अंशुवाहस्तारामुखो मणिबाहो मरुत्सखः॥**' मानसकार भी बतलाते हैं कि—'***सती बिलोकेउ ब्योम बिमाना। जात चले सुन्दर बिधि नाना॥***', '***मेघनाद मायामय रथ चढ़ि गयउ अकास।***', '***चला गगनपथ आतुर भय रथ हाँकि न जाइ।***' लंकामें अनेकों तरहके वायुयान थे। पुराणोंमें विभीषणजीके पास भी व्योमयानका होना वर्णित है। परंतु विभीषणजी मन्त्रियोंको लेकर विमानसे इस पार नहीं आये थे, सभासे उड़कर सीधे श्रीरामजीके पास उड़ते हुए ही आये थे, रावणकी कही जानेवाली कोई वस्तु साथ नहीं ली थी।

नोट—३ मिलान कीजिये—'**चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सार्धं गगनस्थोऽब्रवीद्वचः।''''''कालो राघवरूपेण जातो दशरथालये॥ तेनैव प्रेरितस्त्वं तु न शृणोषि हितं मम॥**' (अध्यात्मरा० ६। २। ३४, ३६) अर्थात् अपने चारों मन्त्रियोंको साथ लेकर विभीषणजी आकाशमें स्थिर होकर ये वचन बोले 'तुम्हारा काल ही दशरथजीके घरमें पैदा हुआ है, उसीकी प्रेरणासे तुम मेरे हितकारी वचन नहीं सुनते।'

टिप्पणी—२ (क) '***राम सत्य संकल्प प्रभु***' इति। अर्थात् उनकी प्रतिज्ञा सत्य है, इसीसे तुझे उपदेश नहीं लगता, उपदेश लगता तो उनकी प्रतिज्ञा ही झूठी हो जाती। ['***प्रभु***' का भाव कि—(१) जो प्रतिज्ञा की, उसे सत्य कर दिखानेकी सामर्थ्य भी उनमें है। (२) मा० त० सु०—यद्यपि वे तुझे मारनेका संकल्प कर चुके हैं तथापि यदि तू शरणमें जाय तो वे अपना संकल्प छोड़कर तुझे स्वीकार कर लें] (ख) '***सभा काल बस तोरि***'—भाव कि इसी कारण किसीको मेरी राय अच्छी नहीं लगती, यथा—'***हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहुँ भेषज जैसे॥***' हमने कालसे बचानेके बहुत उपाय किये; पर वे कुछ काम नहीं आये। कारण यह कि '***निसिचरहीन करउँ महि......***' यह श्रीरामजीकी प्रतिज्ञा असत्य नहीं हो सकती। श्रीरामजीकी प्रतिज्ञा केवल रावणवधकी नहीं है वरन् निशाचरमात्रके वधकी है, इसीसे सारी सभाको कालके वश कहा।

वि० त्रि०—'**सभा**' इति। महाभारतमें कहा है कि वह सभा सभा नहीं है, जिसमें वृद्ध न हों। और वे वृद्ध वृद्ध नहीं हैं जो धर्म न कहें तथा वह धर्म धर्म नहीं है जहाँ सचाई नहीं एवं वह सचाई सचाई नहीं जिसमें छल हो। अतः सभामें प्रवेशके लिये धर्म-शास्त्रोंमें बड़े कठिन नियम हैं। उनमें स्पष्ट लिखा है कि सभामें न जाना चाहिये और यदि जाय तो साफ बात कह दे, क्योंकि विरुद्ध कहनेवाले और चुप रहनेवाले दोनों पापी हो जाते हैं। जिस सभामें धर्म अधर्म-से आक्रान्त होता है वहाँके सभासदोंको ही मरा समझना चाहिये। रावणकी सभामें इतना बड़ा अन्याय विभीषणजीके साथ हुआ और सभासद् सब चुप बैठे रह गये, न कोई बोला, अतः विभीषणजी कहते हैं—'***सभा काल बस तोरि।***'

नोट—४ दोहे से मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**तदन्यथा कथं कुर्यात्सत्यसङ्कल्प ईश्वरः। हनिष्यति त्वां रामस्तु सपुत्रबलवाहनम्। हन्यमानं न शक्नोमि द्रष्टुं रामेण रावण॥ त्वां राक्षसकुलं कृत्स्नं ततो गच्छामि राघवम्॥**' (अ० रा० ६। २। ४३—४५) अर्थात् ईश्वर सत्यसंकल्प हैं, इसलिये वे अपनी प्रतिज्ञाको अन्यथा कैसे कर सकते हैं। अतः श्रीराम अवश्य आपको पुत्र, सेना और वाहनादिसहित मारेंगे। मैं आपका तथा राक्षस-वंशका संहार नहीं देख सकता। अतः मैं श्रीरघुनाथजीके पास जाता हूँ।

वाल्मी० में भी आकाशमें स्थित होकर यही कहा है कि समस्त प्राणियोंके नाशक कालकी फाँसीमें बँधकर नष्ट होते देख हमने हितकी कामनासे कहा था। तुम्हारा और निसाचर-कुलका नाश मुझसे नहीं देखा जा सकता। तुम बड़े भाई हो पर अधर्ममें रत हो। इत्यादि।

टिप्पणी—३ (क) प्रतिज्ञा तो है पृथ्वीको निशाचरहीन करनेकी और निशाचर तो विभीषणजी भी हैं? उसीपर वे कहते हैं कि '***मैं रघुबीर सरन जाउँ''''''***'। इससे यह भी उपदेश है कि जो कोई उनकी शरण जायँगे वे ही उनकी प्रतिज्ञासे बचेंगे, वे शरणागतको नहीं मारते। '***अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि***', '***आये***

सरन तजउँ नहिं', यह उनका व्रत है। [*'रघुबीर'* शब्दसे सूचित किया कि वे पंचवीरतायुक्त हैं, शरणमें जानेपर वे मुझपर दया करेंगे, तुमसे मेरी रक्षा करेंगे। वे तुमसे अधिक विक्रमसम्पन्न हैं, धर्मात्मा हैं, बातके पक्के हैं। ऐसेहीकी शरणमें जाना योग्य है। यथा—*'बीर महा अवराधिये जेहि साधे सिधि होइ।'* (वि०)] (ख) लोक-वेद दोनोंसे निर्दोष होकर प्रभुकी शरण होना सर्वोपरि है। लोक-वेद दोनों शुद्ध होने चाहिये—वेदमत यह कि जहाँतक बल-बुद्धि चली वहाँतक मृत्युसे बचानेका प्रयत्न किया। यथा—**'मृत्युबुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम्। यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः॥'** (भा० १०। १। ४८) इस प्रकार समझाकर वेदसे शुद्ध हुए। और, सबको सुनाकर लोकसे शुद्ध हुए।

रा० शं० श०—१ विभीषणने रावणके हितके बहुत उपाय किये—(१) अपना कल्याण आदि चाहते हो तो जानकीजीको दे दो। यह न माना तब (२) मरनेका भय दिखाया और अन्तमें यह उपाय किया कि (३) तेरी सभा कालबस है। सबको सुनाकर कहनेका अभिप्राय है कि सभावाले अपना काल समझकर अपने बचनेके लिये रावणको समझावेंगे, तब भी हमारा काम बनेगा। यह अन्तिम उपाय करके चले गये।

२—मन्दोदरीने भी यही कहा था, उसे क्यों न मारा? कारण कि उसने समझा कि यह भीरु-स्वभाव है; भयभीत होनेसे ऐसा कहती है और विभीषणके कहनेपर समझा कि यह मेरे राज्यका अभिलाषी है, और शत्रुके पक्षमें है।-[पुनः रावण महाकामी है और यह एक तो उसकी प्रिया है, दूसरे उससे भय नहीं है कि वह पतिको छोड़कर शत्रुसे जा मिलेगी]।

सरयूदासजी—यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि विभीषण समुद्रपार जाकर क्यों शरण हुए, प्रभु तो आते ही थे यहीं शरणागति कर लेते तो क्या अनुचित होता? उत्तर—अनुचित तो कुछ न था; परंतु ऐसा करनेसे तृतीय शरणागतिका स्वरूप नष्ट हो जाता जैसा स्वरूप श्रीमहर्षिजीने दिखाया है—*'परित्यक्ता मया लंका मित्राणि च धनानि च'।* सबका त्याग तीसरी शरणागति (**प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्**) का स्वरूप है। (तुलसीपत्रसे।—दूसरा कारण टिप्पणीमें है)।

प्रोफे० पं० रा० चं० शुक्लजी—गृहनीतिकी दृष्टिसे विभीषण शत्रुसे मिलकर अपने भाई और कुलका नाश करनेवाले दिखायी पड़ते हैं, पर और विस्तीर्ण क्षेत्रके भीतर लेकर देखनेसे उनके इस स्वरूपकी कलुषता प्रायः नहींके बराबर हो जाती है। गोस्वामीजीने इसी विस्तृत दृष्टिसे उनके चरित्रका चित्रण किया है। विभीषण रामभक्त थे, अर्थात् सात्त्विक गुणोंपर श्रद्धा रखनेवाले थे। वे रामके लोकविश्रुत शील, शक्ति और सौन्दर्यपर मुग्ध थे, भाईके राज्यके लोभके कारण वे रामसे नहीं मिले थे। इस बातका निश्चय उनके बार-बार तिरस्कार होनेपर भी रावणको समझाते जानेसे हो जाता है। यदि उन्हें राज्यका लोभ होता तो वे एक ओर तो रावणको युद्धके लिये उत्तेजित करते, दूसरी ओर शत्रुकी सहायता करते। पर वे रावणकी लात खाकर खुल्लमखुल्ला रामकी शरणमें यह कहते हुए गये—*'राम सत्य संकल्प प्रभु·······देहु जनि खोरि'।*

लोभवश न सही, शायद विभीषण भाईके व्यवहारसे रूठकर क्रोधवश रामसे जा मिले हों। इस संदेहका निवारण रावणके लात मारनेपर विभीषणका कुछ क्रोध न करना दिखाकर गोस्वामीजीने किया है। लात मारनेपर विभीषणजी इतना ही कहते हैं—*'तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा। रामु भजे हित नाथ तुम्हारा॥'* वाल्मीकिका वर्णन इसी प्रकार है।

इस स्थानपर गोस्वामीजीका चरित्र-कौशल झलकता है। यदि यहाँ थोड़ी-सी भी असावधानी हो जाती, विभीषण क्रोध करते हुए दिखा दिये जाते तो जिस रूपमें विभीषणका चरित्र वे दिखलाना चाहते थे, वह बाधित हो जाता, अधिकतर यही समझा जाता कि क्रोधके आवेशमें विभीषणने रावणका साथ छोड़ा। कविने विभीषणको साधु-प्रकृति बनाया। हरी हुई सीताको लौटानेके बदले रावणका रामसे लड़नेके लिये तैयार होना असाधुताकी चरम सीमा थी, जिसे विभीषणकी साधुता न सह सकी। गोस्वामीजीका पक्ष यह है—विभीषणकी साधुता औसत दरजेकी थी। वह इतनी बढ़ी नहीं थी कि रामद्वारा दिये हुए भाईके राज्यकी ओरसे वे उदासीनता प्रकट करते।

नोट—५ रावणके प्रति कहे हुए विभीषणजी और हनुमान्‌जीके वाक्योंकी समता—

	विभीषणजी	श्रीहनुमान्‌जी
१	पाइ अनुसासन	कह लंकेस
२	बोला बचन	सुनु रावन…………
३	सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं॥	रिषि पुलस्त्य जस बिमल मयंका। तेहि कुल महुँ जनि होसि कलंका॥
४	काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ। सब परिहरि रघुबीरहिं भजहु…………॥	मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान। भजहु राम रघुनायकहिं…………॥
५	'तात राम नहिं नर भूपाला' से 'बेदधर्मरक्षक सुनु भ्राता' तक	'ब्रह्मांडनिकाया' से 'बधे सकल अतुलितबलसाली' तक
६	ताहि बैर तजि नाइय माथा	तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै
७	प्रनतारतिभंजन रघुनाथा	प्रनतपाल रघुबंसमनि करुनासिंधु…………
८	देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही	मोरे कहे जानकी दीजै।
९	भजहु राम बिनु हेतु सनेही	रामचरनपंकज उर धरहू।…………
१०	सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा।…………	गए सरन प्रभु राखिहहिं सब…………
११	बिनय करौं कर जोरि	बिनती करौं जोरि कर रावन
१२	परिहरि मान मोह मद…………	सुनहु मान तजि मोर सिखावन
१३	तव उर कुमति बसी बिपरीता	उलटा होइहि कह हनुमाना
१४	बुध पुरान श्रुति संमत बानी	भगति बिबेक बिरति नयसानी
१५	सुनत दसानन उठा रिसाई	सुनि कपिबचन बहुत खिसिआना
१६	अह कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा	सुनत निसाचर मारन धाए
१७	सचिव संग लै नभपथ गएऊ	निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी

अस कहि चला बिभीषन जबहीं। आयू हीन भए सब तबहीं॥ १॥
साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥ २॥
रावन जबहि बिभीषनु त्यागा। भएउ बिभव बिनु तबहिं अभागा*॥ ३॥

अर्थ—ऐसा कहकर ज्योंही विभीषण जभी चले तभी सब निशिचर आयुहीन हो गये (अर्थात् ***'सभा कालबस तोरि'*** विभीषणका यह कहना ही शापरूप हो गया)॥ १॥ हे भवानी! साधुका अपमान तुरंत सम्पूर्ण कल्याणकी हानि करता है॥ २॥ रावणने जिस समय विभीषणजीका त्याग किया उसी समय वह भाग्यहीन वैभवरहित हो गया॥ ३॥

टिप्पणी—१ ***'आयू हीन भए सब तबहीं'*** इति। भाव कि (क) (आध्यात्मिक दृष्टिसे वि० ५८ में जो साङ्गरूपक कविने दिया है उसमें शरीरको ब्रह्माण्ड, प्रवृत्तिको लंकादुर्ग, मोहको दशमौलि और जीवको विभीषणसे रूपित किया है इस प्रकार) लङ्कामें विभीषण जीवरूप थे, यथा—'**जीव भवदंघ्रिसेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसितचिंता।**' (विनय० ५८) जीवके निकल जानेसे सब आयुहीन हो गये। अथवा, (ख)-अनादर करनेसे आयुहीन कहा जैसा आगे कहते हैं—*'साधु अवज्ञा तुरत……'*। अखिल कल्याणमें प्रथम आयुको कहा है, यथा—'**आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च। हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः॥**' (श्रीमद्भागवत १०। ४। ४६)

टिप्पणी—२ पूर्व कहा कि ***'सबहि सुनाइ कहत अस भएऊ'*** और यहाँ फिर कहते हैं कि ***'अस***

* ब्र० चं०—'साधु....' अनुकूल है, शेष सब पायकुलक है। 'अस कहि……हानी' में 'अर्थान्तरन्यास अलङ्कार' है।

कहि चला'। इससे जान पड़ता है कि दोहेकी बातको बार-बार कहा।—(नोट—पर यह जरूरी नहीं है। पहले कहते हैं कि ऐसा सबको सुनाकर कहा। और अब कहते हैं कि सुनाकर चल दिये।)

मा० त० सु०—*'तबहीं'* का भाव यह है कि यद्यपि *'निसिचरहीन करौं महि'* यह प्रभुकी प्रतिज्ञा होते ही वे आयुहीन हो गये थे, तथापि प्रभु भक्तवश हो प्रतिज्ञाका परित्याग भी करते हैं; अतएव जब विभीषणने कहा था कि *'सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा'* इसपर यदि रावण वहाँ जाता तो वह अपनी प्रतिज्ञा छोड़ देते। फिर जब विभीषणजीने कहा कि *'सभा कालबस तोरि'* तब प्रभुकृत प्रतिज्ञा दृढ़ हो गयी। अतः उसी समय वे आयुहीन हो गये यथा—'**अहत्वा रावणं संख्ये सपुत्रजनबान्धवम्। अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि त्रिभिस्तैर्भ्रातृभिः शपे॥**' (वाल्मी० ६। १९। २१) श्रीरामवाक्य। अर्थात् पुत्रकुटुम्बसेनासहित रावणका वध किये बिना मैं अयोध्यामें नहीं प्रवेश करूँगा, मैं तीनों भाइयोंका शपथ करता हूँ। इस उक्तिके अनुसार वे इसी समय आयुहीन हुए।

टिप्पणी—३ *'साधु अवज्ञा तुरत……'* इति। (क) 'तुरतका भाव कि और पापोंका फल विलम्बसे होता है पर इसका फल तुरंत मिलता है। और पाप एक-दो ही कल्याणोंके नाशक हैं और यह समस्त कल्याणोंका। *'तुरत'* और *'अखिल'* शब्द देकर इस पापको, भागवतापराधको सबसे भारी जनाया। (ख) साधुके आदरका फल शीघ्र मिलता है—*'देइ सद्य फल प्रकट प्रभाऊ'।* वैसे ही यहाँ दिखाया कि अनादरका फल भी शीघ्र मिलता है। आगे *'तुरत'* शब्दको चरितार्थ करते हैं—*'रावन जबहिं……तबहिं'।* और इसी विचारसे ४२ (१) में भी *'जबहीं' 'तबहीं'* पद दिये गये।

टिप्पणी—४ [(क) *'रावन जबहि……त्यागा'*—भाव कि विभीषणने रावणको नहीं त्यागा, रावणने ही उन्हें जबरदस्ती त्याग दिया] (ख) *'भएउ बिभव बिनु तबहिं अभागा'* इति। जिस सभामें साधुका अनादर हो उसमें अकल्याण होता है। अतएव सभाका अकल्याण *(आयूहीन भये सब तबहीं)* कहकर अब राजाका अकल्याण कहते हैं कि *'भएउ बिभव बिनु……'।* बिभव=ऐश्वर्य, राजसम्पत्ति, सुखसामग्री। (ग) *'अभागा'* का भाव कि सत्सङ्गकी प्राप्ति बड़े भाग्यसे होती है, यथा—*'बड़े भाग पाइय सतसंगा।'* (७। ३३। ८) और रावणने अपने घरके ही साधुको निकाल दिया। अतः अभागा है। अथवा, विभवके नाशसे अभागा कहा।

नोट—१ इसी बातको कवितावलीमें बड़ी मार्मिकतासे दूसरी प्रकारसे गोस्वामीजीने कहा है। यथा—*'बेद बिरुद्ध मही, मुनि सिद्ध ससोक चराचर लोक उजारो। और कहा कहौं, तीय हरी, तबहूँ करुनानिधि कोपु न धारो॥ सेवक छोह ते छाड़ी छमा, तुलसी लख्यो राम सुभाउ तिहारो। तौलौं न दापु दल्यौ दसकंधर जौलौं बिभीषन लातु न मारो॥'* (क०। ७। ३)

☞देखिये श्रीमीराजीके छोड़ते ही राणाका सब वैभव जाता रहा, इसी तरह परम भागवत विभीषणको निकालते ही रावणका वैभव जाता रहा, जैसा कवितावलीमें ऊपर दिखा आये हैं। इस समय उसका वैभव अब ऐसा ही है जैसे खोखला वृक्ष बाहरसे देखनेभरका वृक्ष है। *'सुमतिं'* अब चली गयी, केवल कुमति रह गयी। उसका परिणाम आगे विपत्ति-ही-विपत्ति है। यहाँ 'प्रथम विनोक्ति अलङ्कार' है।

वि० त्रि०—विभीषणने रावणको नहीं त्यागा। रावणने ही विभीषणका त्याग किया। *'बधो वा त्यागो वा'।* त्याग भी वध ही है। अब तीनों लोकोंमें विभीषणको कहीं शरण नहीं है, यथा—*'रावन रिपुहि राखि रघुबर बिनु को तिभुवन पति पाइहै।'* इतनेपर भी विभीषणजी माँके पास गये, उसकी अनुमति ली, तब बड़े भाई कुबेरजीके यहाँ गये। वहाँ शंकरभगवान्‌से भेंट हुई, उन्होंने मन्त्र दिया, *'राम की सरन जाहि सुदिन न हेरै।';* अतः विभीषणजी तो रामजीके शरण जाकर बड़भागी हुए, पर रावण विभीषणके त्यागनेसे अभागा हो गया। विभीषणके रहनेसे रावणकी सर्वत्र विजय थी, विभीषणके त्यागसे उसका विजयरथ टूट गया। यदि दाँत जीभका परित्याग करे तो उसका परम अभाग्य समझना चाहिये।

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं॥४॥

अर्थ—(श्रीविभीषणजी) मनमें बहुत मनोरथ करते हुए हर्षपूर्वक श्रीरघुनाथजीके पास चले॥४॥

☞ गीतावलीके सुन्दरकाण्डके निम्न पदोंसे *'बहु मनोरथ'* स्पष्ट हो जाते हैं।

'पद पदुम गरीबनिवाज के। देखिहौं जाइ पाइ लोचन फल हित सुर साधु समाज के॥ गई बहोर ओर निर्बाहक साजक बिगरे साज के। सबरी सुखद गीध गतिदायक समन सोक कपिराज के॥ नाहिन मोहि और कतहूँ कछु जैसे काग जहाज के। आयो सरन सुखद पदपंकज चौथे रावन बाज के॥ आरतिहरन सरन समरथ सब दिन अपने की लाज के। तुलसी पाहि कहत नत पालक महुँसे निपट निकाज के ॥ २९॥

'महाराज राम पहिं जाउँगो। सुख स्वारथ परिहरि करिहौं सोइ साहिबहि सोहाउँगो॥ सरनागत सुनि बेगि बोलिहैं हौं निपटहिं सकुचाउँगो। राम गरीब निवाज निवाजि हैं जानि हैं ठाकुर ठाउँगो॥ धरिहैं नाथ हाथ माथे एहि तें केहि लाभ अवाउँगो। सपनो सो अपनो न कछू लखि लघु लालच न लुभाउँगो॥ कहिहौं बलि रोटिहा रावरो बिनु मोलही बिकाउँगो। तुलसी पट ऊतरे ओढ़िहौं उबरी जूठन खाउँगो॥' ३०॥

ये सब मनोरथ दर्शनके अन्तर्गत हैं, अन्य वासनाकृत मनोरथ नहीं हैं। किस प्रकारके मनोरथ करते हैं, यह कवि यहाँ भी स्वयं आगे लिखते हैं।

टिप्पणी—१ (क) *'रघुनायक'* इति। कृपणके पास जानेसे एक भी मनोरथकी सिद्धिका निश्चय नहीं होता पर सभी रघुवंशी उदारशिरोमणि हैं और ये तो उनके राजा तथा सबसे श्रेष्ठ हैं, यहाँ सभी मनोरथके सिद्ध होनेका भरोसा है, अतः *'रघुनायक'* के पास चले और *'बहुत मनोरथ'* करते हुए चले। गी० २९ में सकाम मनोरथ करना दिखाया है। वही यहाँ (आगे) अहल्या और दण्डकवनकी पावनतासे जनाया। पद ३० में निष्काम भक्ति कहकर जनाया कि विभीषणजी निष्काम मनोरथ कर रहे हैं……। (ख) *'हरषि'* इति। जब पहिले चलना कहा तब हर्ष न कहा था। यथा—*'अस कहि चला बिभीषन जबहीं।'* और अब हर्षित होकर चलना कहते हैं। भाव यह कि पहले चलनेके समयमें लोकलाजका संदेह था। जब माता और कुबेरने आज्ञा दे दी तब हर्षपूर्वक चले। पुनः, जब माताके पास गये एवं जब कुबेरके पास गये, तब शकुन न हुए थे; परन्तु जब श्रीरामजीके पास चले तब शकुन हुए, वही बात मानसमें *'हरषि'* पदसे जनायी। हर्ष हुआ कि दुष्ट संग छूटा, अब दर्शन होगा।

मिलान कीजिये—*'जाइ पाय मायँ परि कथा सो सुनाई है। समाधान करति बिभीषन को बार बार, कहा भयो तात लात मारे बड़ो भाई है॥ साहिब पितु समान जातुधान को तिलक ताके अपमान तेरी बड़ीयै बड़ाई है। गरत गलानि जानि सनमानि सिख देति रोष कियें दोष सहें समुझे भलाई है॥ इहाँ ते बिमुख भये राम की सरन गये भलो नेकु लोकु राखे निपट निकाई है। मातुपग सीस नाइ तुलसी असीस पाइ चले भले सगुन कहत मन भाई है॥'* (गी० २६)

'भाई कैसो करौं डरों कठिन कुफेरैं। सुकृत संकट परेउ जात गलानिन्ह गरयो कृपानिधिको मिलौं पै मिलि कै कुबेरैं॥ जाइ गहे पाँव धाइ धनद उठाई भेंट्यो समाचार पाइ पोच सोचत सुमेरैं। तहँई मिले महेस दियो हित उपदेस राम की सरन जाहि सुदिन न हेरैं॥ जाको नाम कुंभज कलेससिंधु सोखिबे को मेरो कह्यो मानि तात बाँधे जिनि बेरैं। तुलसी मुदित चले पाये हैं सगुन भले रंग लूटिबे को मानों मनगनि ढेरैं॥' (गी० ५। २७)

'संकर सिख आसिष पाइकै। चले मनहिं मन कहत बिभीषन सीस महेसहि नाइकै॥ गये सोच भये सगुन सुमंगल दस दिसि देत देखाइकै। सजल नयन सानंद हृदय तन प्रेम पुलक अधिकाइ कै॥' (गी० ५। २८)

श्रीलमगोड़ाजी—अंग्रेजीके विद्वान् मित्र विभीषणजीके *'करत मनोरथ बहु मन माहीं'* इस मननकी तुलना शेक्सपियरके नाटकोंकी स्वगत वार्ताओं (Soliloquy) से करें और देखें कि वे कितने कृत्रिम हैं। कविके गुप्त होनेसे ही उस कृत्रिम साधनका प्रयोग होता है। अभिनेताको प्रगतियोंसे अवश्य ही कुछ प्रकट करना होगा, (जैसे, आँख या हाथके संकेतसे), तभी मूक रंग-मंचपर इस मनके मनोरथकी कविद्वारा व्याख्या अच्छी लगेगी। (जैसे *'इन्ह नयनन्ह'* और *'अब'* इत्यादिके साथ)।

देखिहौं जाइ चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥ ५॥
जे पद परसि तरी रिष नारी। दंडक कानन पावनकारी॥ ६॥

अर्थ—मैं जाकर श्रीरामजीके श्रीचरणकमलोंको देखूँगा जो लाल, कोमल और सेवकोंको सुख देनेवाले हैं॥ ५॥ जिन चरणोंको छूकर ऋषिपत्नी अहल्या तर गयी और जो दण्डकवनके पवित्र करनेवाले हैं॥ ६॥

रा० शं० श०—*'देखिहौं……'।* देखना तीन प्रकारका है, आँखोंसे देखना, हाथसे स्पर्श करके मालूम करना, हृदयसे महिमा विचार करना। विभीषणजी कहते हैं कि नेत्रोंसे मैं चरणोंकी ललाई देखूँगा, हाथसे छूकर कोमलता देखूँगा और हृदयसे सेवकसुखदातृत्व महिमाको विचार करूँगा।

वीरकवि—*'देखिहौं जाइ……'* में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। यहाँ विभीषणके मनमें ईश्वरदर्शनकी इच्छासे अपूर्व उत्कण्ठाका उत्पन्न होना 'देवविषयक रति स्थायी भाव' है।

टिप्पणी—१ *'देखिहौं जाइ……'* इति। (क) विभीषणजी रामभक्त हैं। इसीसे चरणदर्शनकी अभिलाषा कर रहे हैं, यथा—*'तेहि माँगेउ भगवंतपद कमल अमल अनुराग।'* (१। १७७) ☞ औरोंको उपदेश है कि सब छोड़कर एकमात्र प्रभुके चरणकमलके दर्शनोंका मनोरथ करें। (ख) विभीषणजीको शकुन हुए। वे हर्षित होकर चले हैं, इसीसे कहते हैं कि *'देखिहौं जाइ……'।* यथा—*'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी।'* (५। १। ३) (ग) कमल कई प्रकारके हैं, अतः *'अरुण'* कहा। (घ) *'जलजात अरुण मृदुल'* से चरणोंका स्वरूप कहा। *'सेवक सुखदाता'* से फल कहा। देखते ही सेवकको सुख देते हैं, यह चरणदर्शनका फल है। *'जे पद परसि तरी……'* से स्पर्शका फल कहा। *'जे पद जनकसुता उर लाए……'* और *'हर उर सर सरोज पर जोई'* में ध्यान करनेवालोंको कहा। और, *'जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि……'* में भजन कहा; क्योंकि भरतजी इनका नित्य पूजन करते हैं—*'नित पूजत प्रभु पाँवरी……'।*

टिप्पणी—२ (क) ऋषिपत्नी और दण्डकवनको एक साथ कहा। क्योंकि दोनों व्यभिचारके कारण ही शापित हैं, दोनों जड हैं, दोनोंका प्रायश्चित्त प्रभुके चरणोंसे हुआ और प्रभुने दोनोंको उनके यहाँ जा-जाकर तारा है। (ख) *'जे पद परसि तरी……'* का भाव इन उद्धरणोंमें है—*'सिलासापमोचन चरन सुमिरहु तुलसीदास। तजहु सोच संकट मिटहि पूजिहि मन की आस॥', 'सिला साप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ।'* (वि० १००), *'दंडक बन पावन करन चरन सरोज प्रभाउ। ऊसर जामहिं खल तरहिं होइ रंक को राउ॥'* (रामाज्ञा ३। १) (ग) अहल्या, दण्डकवन और कपटमृगको श्रीरामजीने चलकर कृतार्थ किया। ये तीनों निम्नकोटिके हैं। जिनको चर्मचक्षुओंसे दर्शन हुआ। श्रीजानकीजी, श्रीभरतजी और श्रीशिवजी ये तीनों उत्तम सेवक हैं, उच्चकोटिके भक्त हैं जो चरणकमलकी सेवारूपी भजन करते हैं; इनको श्रीरामजी सदा ध्यानमें प्राप्त रहते हैं। तात्पर्य कि महात्मा लोग चरणोंको हृदयमें लाकर उनको सेवते हैं और पातकीको प्रभु चरणोंसे चलकर कृतार्थ करते हैं—ऐसे पतितपावन हैं। [विभीषणजी विचारते हैं कि मैं भी निम्नकोटिका होनेके कारण इन नेत्रोंसे श्रीचरणोंका दर्शन करूँगा। (श्रीजयरामदास दीन)]

वीरकवि—विभीषणजीके सभी मनोरथ साभिप्राय हैं। अरुण और रजोगुणका सूचक है इससे राज्य पानेकी इच्छा और कोमलसे अल्पसाधनद्वारा मिलनेका अभिप्राय होता है।

मा० त० सु०—(क) यहाँ अरुणका राज्यसम्बन्धी रजोगुणसूचक अर्थ असंगत है, क्योंकि तनिक भी वासना रहनेसे शुद्ध शरणागति नहीं होती, यथा गीतावली—*'गये छाँड़ि छल सरन रामकी जो फल चारि चारयौं जनै'* (५। ४०) पुनः विभीषणजी ऐश्वर्यके उपासक हैं, अतः रजोगुण असम्भव है। (नोट—अध्यात्म० यु० स० २ में भी ऐसा ही कहा है। यथा—'**विभीषणो रावणवाक्यतः क्षणाद् विसृज्य सर्वं सपरिच्छदं गृहम्। जगाम रामस्य पदारविन्दयोः सेवाभिकाङ्क्षी परिपूर्णमानसः॥**' (४६) अर्थात् सन्तुष्टचित्त विभीषण रावणके कठोर भाषणसे एक क्षणमें ही समस्त सामग्रीके सहित अपने घरको छोड़कर भगवान् रामके चरणकमलोंकी सेवाकी कामनासे उनके पास चले गये।)। (ख) *'जे पद परसि……'* यह दृष्टान्त है। इसके द्वारा दार्ष्टान्त दिखाते हैं।—अहल्याकी-सी बुद्धि मेरी है। (मा० म०) वह तामसी बुद्धिसे नष्ट हुई, वैसे ही मैं बहिर्मुख हुआ। (ग) यहाँ विभीषणजीमें परम ऐकान्तिक प्रपन्नका लक्षण दिखाया है। अतः इनमें कुछ भी स्वार्थ साधन आरोपित करनेसे वाल्मीकीय रामायणोक्त दीर्घ शरणागति व्यर्थ हो जाती है, यथा—'**त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः।**' (६। १७। १६), '**परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च।**' (वाल्मी० ६। १९। ५) अर्थात् स्त्री, पुत्र, लंका, मित्र और धन आदि सब कुछ परित्याग कर दिया, अब

मेरे ये सब कुछ आप ही हैं। यह निरपेक्षता गीतावलीमें दिखायी है—*'सपनो सो अपनो न कछू लखि लघु लालच न लुभाउँगो। कहिहौं बलि रोटिहा रावरो बिन मोल ही बिकाउँगो''''॥'* (५। ३०)

जे पद जनकसुता उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए॥ ७॥
हर उर सर सरोज पद जेई। अहो भाग्य मैं देखिहौं तेई*॥ ८॥

अर्थ—जिन चरणोंको श्रीजानकीजी हृदयमें लायीं (धारण किया), जो कपटमृगके साथ उसे पकड़नेको दौड़े॥ ७॥ जो चरणकमल शिवजीके हृदयरूपी सरोवरमें निवास करते हैं—उन्हींको आज मैं (चर्म-चक्षुओंसे) देखूँगा। अहो मेरा परम धन्य भाग है!॥ ८॥

नोट—१ मिलान कीजिये (श्रीमद्भा० ११। ५। ३३-३४ से)—**'ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्। भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्। मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥'**

नोट—२ *'उर लाये'* अर्थात्, संयोग, वियोग सर्वकाल हृदयमें धारण किये रहती हैं। इससे ऐकान्तिक स्नेह सूचित किया।

नोट—३ (क) हर-उर सर है, श्रीरामचरण कमल हैं, यह कहकर जनाया कि शिवजीका मन-भ्रमर इस कमलमें लुब्ध रहता है, यथा—*'मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपतिपदकमल बसैहौं', 'रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥'* पुनः, कमल सदा सरमें ही रहता है, वैसे ही श्रीरामपदारविन्द निरन्तर हर-उरमें रहते हैं। (ख) यहाँ परम्परितके ढङ्गका 'सम अभेद-रूपक अलङ्कार' है।

टिप्पणी—१ (क) जनकसुता और मृग दोनों कपट (माया) के हैं; यथा—*'पुनि माया सीता कर हरना', निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता।', 'तब मारीच कपट मृग भयऊ';* और दोनों छबि देखते हैं, यथा—*'जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम॥'* (३। २९), *'मम पाछे धर धावत धरे सरासन बान। फिरि फिरि प्रभुहिं बिलोकिहौं धन्य न मो सम आन॥'* (३। २६) अतः दोनोंको साथ रखा। (ख) श्रीशिवजी और श्रीभरतजी दोनों रामभक्तिके ज्ञाता हैं, यथा—*'जानी है संकर हनुमान लषन भरत रामभगति।''''''रामप्रेम पथ ते कबहुँ डोलति नहिं डगति।'* (गी० २। ८२), *'राम रावरो सुभाउ गुन सील महिमा प्रभाउ जान्यो हर हनुमान लषन भरत। जिन्ह के हिय सुथल रामप्रेम सुरतरु लसत सरल सुख फूलत फरत॥'* (वि० २५१) शिवजी वैष्णवाग्रगण्य हैं, यथा—**'वैष्णवानां यथा शम्भुः।'** (भा० १२। १२। १६) और भरतजी भी भक्तशिरोमणि कैसे हैं कि *'जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को।'* दोनों परमोच्चकोटिके भक्त हैं। श्रीशंकरजी पूज्य हैं, श्रीराम और श्रीभरत उनका पूजन करते हैं, अतः उनको भक्तोंकी गणनामें सर्वत्र प्रथम रखा है, वैसे ही यहाँ भी प्रथम कहा। अतएव इन दोनोंको पास-पास रखा। पुनः, (ग) दिखाया कि श्रीरामचरणमें सबका अधिकार है, स्त्री वा पुरुष कोई भी हो। पुरुषोंमें शिवजी, स्त्रियोंमें श्रीजानकीजी और अहल्याजी। श्रीजानकीजी तथा अहल्याजीके दृष्टान्तसे जनाया कि चाहे पतिव्रता हो, चाहे व्यभिचारिणी दोनोंको अधिकार है। मारीच कपटी है, भरतजी और शिवजी निष्कपट हैं—इनके उदाहरणसे जनाया कि चाहे कपटी हो, चाहे निश्छल दोनोंको अधिकार है। पुनः, दंडकवन जड़ है और अन्य सब चैतन्य हैं। दोनोंको कहकर जनाया कि जड़ हो वा चेतन दोनोंको अधिकार है।

रा० शं० श०—श्रीविभीषणजीके हृदयमें श्रीरघुवीरपदकमलसे लाभ उठानेवालोंकी पहले दो उपमाएँ आयीं, पर सन्तोष न हुआ; क्योंकि उनकी गिनती महान्‌में नहीं है। अहल्या और दण्डकवन दोनों जड़ थे। अतएव तीन और उपमाएँ हृदयमें आयीं कि—जानकीजी आदिशक्ति हैं; वे भी इनका ध्यान करती हैं। दूसरे *'प्रभु सर्वज्ञ समर्थ सिव सकल कला गुन-धाम। जोग-ज्ञान बैराग्य निधि प्रनत कलपतरु नाम॥'* ऐसे महादेवजी भी हृदयमें उन्हें बसाये रहते हैं और तीसरे भरतजी, जिनकी महामहिमा त्रिदेव, सरस्वती

* ब्र० चं०—४१ (४, ५, ६, ८), 'जे पद''''''''' पायकुलक 'कपट''''''''' नयमालिनी।

आदि भी नहीं कह सकते, उनके पादुकाओंमें ही निमग्न रहते हैं। (आगे दोहा ४२ भी देखिये)।

पाँड़ेजी—श्रीजनकनन्दिनीजीका नाम लेनेमें आशय यह है कि यदि दूर ही रखेंगे तो सीताजीकी भाँति उनके चरणोंको हृदयमें धारण करूँगा। मैं कपटी हूँ, कदाचित् त्याग करें? इसपर सन्तोष प्रकट करते हैं कि वे कपटी मृगके पीछे दौड़े हैं। परम्पराकी ओर देखकर विचारते हैं कि हमारे कुलके गुरुदेव शिवभगवान्के हृदयमें बसते हैं, आज मैं उन्हींका दर्शन करूँगा, अहोभाग्य है।

टिप्पणी—२ *'अहो भाग्य'* का भाव कि मेरा भाग्य जानकीजी, शिवजी और भरतजीसे भी अधिक है क्योंकि सब भगवान्के चरण ध्यानमें देखते हैं और मैं उन्हींको इन नेत्रोंसे देखूँगा।

टिप्पणी—३ पूर्व चरणोंको जलजात विशेषण दिया—*'देखिहौं जाइ चरन जलजाता।'* अब दिखाते हैं कि वह कमल किस तालाबमें है *'हर उर सर सरोज पद०'*

दोहा—जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहौं इन्ह नयनन्हि अब जाइ*॥ ४२॥

अर्थ—जिन चरणोंकी पादुकाओं (खड़ाऊँ) में श्रीभरतजीने मनको लगा रखा है, उन चरणोंको आज अब जाकर इन नेत्रोंसे देखूँगा॥ ४२॥

टिप्पणी—१ *'भरत रहे'* अर्थात् वे पादुकाएँ भरतजीको अवलम्ब हुईं, इसीसे वे (जीवित) रहे, नहीं तो न रहते, यथा—*'सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पार पावउँ जेहि सेई॥'* (२। ३०७। ८) *'मन लाइ'* अर्थात् उसीमें मन, वचन, कर्मको लगाये हैं, यथा—*'नित पूजत प्रभु पाँवरी'* (कर्म), *'प्रीति न हृदय समाति'* (मन), *'माँगि माँगि आयसु करत रामकाज बहु भाँति'* (वचन) (२। ३२५) (ख) विभीषणजीको चरणोंके दर्शनका बड़ा उत्साह है, इसीसे बारम्बार चरणोंके देखनेको कहा—*'देखिहौं जाइ चरनजलजाता'* (१) *'अहो भाग्य मैं देखिहौं तेई'* (२) *'ते पद आजु बिलोकिहौं इन नयनन्हि अब जाइ'* (३)। *'इन नयनन्हि'* अंगुल्यानिर्देश है। तात्पर्य कि वे ध्यानमें देखते हैं और मैं प्रत्यक्ष देखूँगा। *'अब जाइ'* का भाव कि जब कुसंग छूटे तब भगवान्के दर्शन हों।

श्रीजयरामदासजी 'दीन'—यहाँ शरणागतिके छः विधान होनेके कारण ही छः भक्तोंका निर्देश हुआ है, यथा—'**आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥ आत्मनिक्षेपकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः॥**' (नारदपञ्चरात्र)

अतएव अहल्याकी भाँति सर्वसंकल्पशून्य 'अनुकूल' संकल्प, दण्डकको भाँति प्रतिकूलसे हानिकी शिक्षा ले 'प्रतिकूलवर्जन', श्रीजनकसुताकी भाँति 'रक्षाका अतीव विश्वास', मारीचकी भाँति *'ते नररूप चराचर ईसा'* से 'गोप्तृत्ववरण', श्रीशिवभगवान्की भाँति 'आत्मसमर्पण', और श्रीभरतकी भाँति कार्पण्यकी दृढता की गयी।

अहल्याके प्रथम स्मरणसे विभीषणके हृदयकी तत्कालीन सर्वोपायशून्यता तथा सब प्रकारकी दीनता, हीनता एवं जड़बुद्धिकी भावना प्रकट होती है। अहल्याकी शापावस्थासे उन्हें अपने विप्रशापका स्मरण हो जाता है, जिससे अपनेको भी निश्चित अघस्वरूप समझ उनके हृदयमें आशाका संचार होता है कि जिस प्रकार भगवान्ने निर्हेतु कृपाकर स्वयं जाकर अहल्याका उद्धार किया था वैसे ही आज प्रभु यहाँ मेरा उद्धार करनेके लिये स्वयं पधारे हैं। इसी प्रकार शेष पाँच भक्तोंके स्मरणके तद्वत् ही भाव उनके हृदयमें उठते हैं, जिनका वर्णन करनेसे लेख बहुत बढ़ जायगा। इस स्थलपर सम्मान्य ग्रन्थकारकी रचनापर मन न्यौछावर हो जाता है, उन्होंने तीन निम्न और तीन उच्च कोटिके जोड़े किस खूबीके साथ मिलाये हैं। निम्नकोटिके शापग्रस्त हुए अहल्या और दण्डकके जोड़ेको आदिमें रखा। उच्चकोटिके श्रीशिव और भरतके जोड़ेको अन्तमें रखा; अब बचा एक जोड़ा, जिसमें एक परम उच्चकोटिकी श्रीसीताजी और दूसरा नीच कोटिका मारीच। इस जोड़ेको बीचमें रख दोनोंके बीचमें 'कपट' शब्द रख ऐसी योजना कर दी

* ब्र०चं०—वानर दोहा है।

कि जिससे यह भेद खुल गया क्योंकि न तो असली जानकीजी हैं—*'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता'* और न असली मारीच ही है—*'भयउ कपट मृग तेहि छलकारी'*। बस, केवल कपटकी क्रीड़ा है!

पश्चात्—*'हर उर सरसरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहौं तेई॥'*

इस 'अहोभाग्य' से उनके हृदयका आह्लाद स्पष्ट है, यथा—*'जे हर हिय नयनन्हि कबहुँ निरखे नहीं अघाय'*—उन्हीं श्रीचरणकमलोंको आज मैं इन नयनोंसे देखूँगा!

वीरकविजी—यहाँ श्रीभरतजीके स्मरणसे ऐश्वर्य मद त्यागकर निरन्तर तप-स्थलमें निवासकर चरणोंमें लय लगानेका मनसूबा बाँधते हैं।

नोट—१ *'देखिहौं जाइ चरन जलजाता॥······ते पद आज बिलोकिहउँ'* इति। मिलान कीजिये विनयके पद २१८ से—*'कबहुँ देखाइहो हरि चरन? समन सकल कलेस कलिमल, सकल-मंगलकरन॥ सरदभव सुन्दर तरुनतर अरुन बारिज बरन। लच्छि लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन॥ गंग जनक, अनंग अरि प्रिय, कपटु बटु बलि छरन। बिप्रतिय नृग बधिक के दुख दोष दारुन दरन॥ सिद्ध सुर मुनिबृन्द बंदित सुखद सब कहुँ सरन। सकृत उर आनत जिन्हहिं जन होत तारन तरन॥ कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत आरति हरन। दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन॥'*

श्रीनंगे परमहंसजी—*'जे पदपरसि तरी·······'* इसमें विभीषणजीने श्रीरामजीके चरणोंका प्रताप सूचित किया है कि इन चरणोंका स्पर्श करके अघी अहल्या तर गयी तो मैं भी तर जाऊँगा। जैसे दण्डक वन शापवश अपावन था और चरणस्पर्शसे पावन हो गया, वैसे ही निशाचर-वंशमें उत्पन्न होनेके कारण मैं अपावन हो गया हूँ सो आज चरणस्पर्श करके पावन हो जाऊँगा। जनकसुता, शिवजी और भरतजी इन तीनों भक्तोंसे श्रीरामजीका चरण सेवित कहकर विभीषणजी अपने भाग्यकी सराहना कर रहे हैं कि जो ऐसे बड़ों-बड़ोंके मनसे सेवित हैं उन चरण-कमलोंको मैं बाह्य नेत्रोंसे देखूँगा।

'जे पद जनकसुता उर लाये' इत्यादिमें जो 'पद' शब्द है उससे केवल चरणका ध्यान समझना अयोग्य है, क्योंकि श्रीसीताजी सर्वाङ्गका ध्यान करती हैं, यथा—*'जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम॥'* छबि शब्द सर्वाङ्गको सूचित करता है। इसी तरह श्रीशिवजी सर्वाङ्गका ध्यान करते हैं। यथा—*'जो सरूप बस सिव मन माहीं', 'संकर सोइ मूरति उर राखी।'*

मा० त० सु०—(क) चरणोंकी अपेक्षा पादुका अति तुच्छ होती है; उनका अवलंब ऐसे महान् भरतजीने लेकर समग्र वैभवका तिरस्कार किया—ऐसा आनन्द उनको इनसे प्राप्त हुआ। [ख] *'आजु'* का भाव कि जिनकी प्राप्तिके लिये मुनिलोग सर्वस्व त्यागकर नाना प्रकारके साधन करते हैं, यथा—*'जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी'*॥ ऐसे दुष्प्राप्य चरणकमलोंको मैं अल्पसाधन (केवल गमनमात्र) से अवलोकन करूँगा। (ग) *'इन नयनन्हि'* अर्थात् इन्हें मुनि आदि ज्ञान-वैराग्य-नेत्रोंसे देखते हैं। मैं साक्षात् इन चर्मचक्षुओंसे देखूँगा। (घ) यहाँ *'नयनन्हि'* बहुवचन पद देकर जनाया कि आज भगवद्दर्शनसे यथार्थ नेत्रवान् मैं ही हूँगा।

पाँचों उदाहरणोंके भाव—अहल्या और दण्डकवनका शाप छूटा, मेरा ब्रह्मशाप छूटेगा और मैं आनन्दको प्राप्त हो जाऊँगा—*'पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं।'* (६। ११५) श्रीजानकीजीकी तरह मैं अहर्निश हृदयमें धारण करूँगा। प्रभुने कपटमृगके कपटको न स्मरणकर उसके अभीष्टको पूरा किया, वैसे ही मेरे कपटमिश्रित भावको न स्मरण करके अभीष्ट पूर्ण करेंगे। हर मेरे गुरु हैं इस कारण मेरा परम्परागत सम्बन्ध है। अतएव जो मेरे गुरुके परम कल्याणकारक हैं उनको मैं जाकर देखूँगा। अहोभाग्य है! पुनः भरतजी तो पादुकावलंबी हैं; किन्तु मैं चरणावलंबी होऊँगा; अतः अहोभाग्य।

एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा। आएउ सपदि सिंधु एहि पारा॥ १॥*

---

* ब्र० चं०—'एहि······' चण्डी, 'आएउ' पायकुलक।

अर्थ—इस प्रकार प्रेमसहित विचार करते हुए (श्रीविभीषणजी) शीघ्र ही समुद्रके इस पार आये॥ १॥

नोट—१ विभीषणजीकी इस दशा और विचारोंसे अक्रूरजीकी दशा और विचारोंका मिलान करने योग्य है। दोनोंकी एक-सी दशा हो रही है, अतः उसका कुछ अंश उद्धृत करते हैं—

'किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः। किं वाथाप्यर्हते दत्तं यद् द्रक्ष्याम्यद्य केशवम्॥ ममैतद् दुर्लभं मन्य उत्तमश्लोकदर्शनम्। विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रजन्मनः॥ मैवं ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम्। ह्रियमाणः कालनद्या क्वचित्तरति कश्चन॥ ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः। यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम्॥ कंसो बताद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितोऽमुना हरेः। कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः पूर्वेऽतरन्यन्नखमण्डलत्विषा॥ यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः। गोचारणायानुचरैश्चरद्वने यद् गोपिकानां कुचकुंकुमाङ्कितम्॥', 'तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम्। रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः॥' (भा० १०। ३८। ३—८, १४)

महात्मा अक्रूरजी मनमें ऐसा विचार कर रहे हैं—'मैंने ऐसा कौन-सा मंगल कर्म किया है, कौन महान् तप किया है अथवा सत्पात्रको दान दिया है जो आज मुझे भगवान्‌के दर्शन होंगे। आज मेरा जन्म सफल हो गया कि मैं उन चरणकमलोंको साक्षात् नमस्कार करूँगा, योगीलोग जिनको ध्यानमें देखनेकी चेष्टा करते हैं, ध्यानमें जिनका यथार्थ दर्शन वे नहीं कर पाते। यह कंसकी मुझपर बड़ी कृपा हुई कि मुझे उन प्रभुके पास भेजा……। जिन चरणोंकी ब्रह्मा-शिवादि देवता, लक्ष्मीजी और प्रेमी भक्तोंसहित बड़े-बड़े मुनि जिनकी आराधना करते हैं, उनका मुझे साक्षात् दर्शन होगा। यही सब अहोभाग्य मैं *'देखब सोई'* का भाव है।

श्लोक ४, ५ में जो विचार है कि मुझ विषयासक्तको उनका दर्शन परम दुर्लभ है तथापि यह भी कोई बात नहीं, मुझे भी दर्शन हो सकते हैं, जैसे नदीमें बहते हुए तिनके भी कभी-कभी इस पारसे उस पार लग जाते हैं—ये *'देखिहउँ जाइ चरन जलजाता॥ जे पद परसि तरी रिषिनारी। दंडककानन पावनकारी॥'* इन चौपाइयोंमें आ जाते हैं। जैसे पापिनी अहल्या और दण्डक-वनको दर्शन प्राप्त हुआ और उनके सब पाप-शाप मिट गये।

☞ यहाँतक *'अहोभाग्य मैं देखब सोई'* वाले विचार हैं। दर्शन पानेपर क्या व्यवहार होगा वे मनोरथ आगे श्लोक १५ से २३ तक हैं।

टिप्पणी—१ मनोरथ करते चले थे और यहाँ अन्तमें लिखते हैं कि विचार करते आये। इससे मनोरथ और विचार यहाँ पर्याय सिद्ध हुए।

टिप्पणी—२ मनोरथमें रामायण कही, पर काण्डक्रम इसमें नहीं रखा। इसका कारण 'सप्रेम' शब्दमें पूज्य कविने दरसा दिया है। प्रेममें नेम नहीं रहता। विभीषणजीका श्रीरामचरणमें प्रेम है और *'रामहिं केवल प्रेम पियारा।'* इसीसे सप्रेम विचार करते हुए आये। और श्रीरामचरणदर्शनकी अति उत्कण्ठा है, इसीसे 'सपदि' (शीघ्र) आये। यथा—*'बहु बिधि करत मनोरथ जात लागि नहिं बार।'* (१। २०६) जितनी देर विचारमें लगी, उतनेहीमें पार पहुँच गये और श्रीरामचरणप्रेम तो शीघ्र ही भवसागर पार कर देता है, यह समुद्र कितना है?

श्रीलमगोड़ाजी—हाँ; यह नियम अवश्य है कि पहले भक्त अपनेको पतित अवस्थामें समझकर 'पतितपावन' रूपका ही ध्यान करता है।

कपिन्ह बिभीषनु आवत देखा। जाना कोउ रिपुदूत बिसेषा*॥ २॥
ताहि राखि कपीस पहिं आए। समाचार सब ताहि सुनाए॥ ३॥

अर्थ—वानरोंने विभीषणजीको आते देखा तो जान गये कि अवश्य यह शत्रुका कोई विशेष दूत है॥ २॥ उन्हें रोक (ठहरा) कर सुग्रीवके पास आये और सब समाचार उनको सुनाये॥ ३॥

---

* ब्र० चं०—'कपिन्ह……' तामरस 'जाना……' (३, ४) पायकुलक।

टिप्पणी—१ (क) (*'आवत देखा'* कहकर वानरोंकी सैन्य-रक्षा और स्वाम्याज्ञापालनमें सावधानता सूचित की।) (ख) चार मन्त्रियोंके साथ और बड़ा तेजस्वी देखकर विशेष दूत जाना और दूत जानकर मारा नहीं। ['विशेष दूत' क्योंकि चार शस्त्रधारी वीर (मन्त्री) भी साथ हैं और सभी आभूषणोंसे भूषित हैं। यथा—'**ये चाऽप्यनुचरास्तस्य चत्वारो भीमविक्रमाः। तेऽपि सर्वायुधोपेता भूषणैश्च विभूषिताः॥**' (वाल्मी० ६। १७। ३)] (ग) रिपुदूत इससे जाना कि वे समुद्र पार लंकाकी ओरसे आये हैं, आकाशमार्गसे निरवलंब आते देखा और वेष भी राक्षसका है। विभीषणजी निष्कपट हैं इसीसे उन्होंने अपना रूप नहीं बदला, असली रूपसे ही आये। सिन्धुके पार आकर पृथ्वीपर उतर पड़े, पैदल ही श्रीरामजीके पास चले, तब वानरोंने रोका। (घ) *'कोउ रिपुदूत बिसेषा'*—यद्यपि विभीषणजीने बता दिया है कि हम रावणके भाई हैं, श्रीरामजीके दर्शनको आये हैं। पर उन्हें विश्वास न हुआ, यही जाना कि कोई दूत है, भाई नहीं है और न मिलने आया है। अतः *'कोउ'* पद दिया और उसे कटकमें न आने दिया, बाहर ही रोक रखा।

टिप्पणी—२ (क) *'ताहि राखि कपीस पहिं आए'* इति। इससे ज्ञात होता है कि श्रीरामजी और सुग्रीवजी सेनाके बीचमें हैं। इसीसे उन्होंने विभीषणको आते नहीं देखा। वानर चारों ओरसे दलकी रक्षा कर रहे हैं, उनकी सब तरफ दृष्टि है; इसीसे उन्होंने आते देख लिया। (ख) *'समाचार सब ताहि सुनाए'* से जनाया कि वानरोंने उनसे आनेका समाचार पूछा और उन्होंने सब बताया। क्या समाचार है? यह यहाँ नहीं खोला, समाचारका खुलासा श्रीरामजीके सामने सुग्रीवके वचनोंमें कहा है—*'आवा मिलन दसानन भाई।'* बारंबार लिखनेसे ग्रन्थ बढ़ जाता, इससे एक ही जगह लिखा।

नोट—वाल्मीकीयमें उन्होंने जो अन्तरिक्षमें स्थित होकर कहा है '**रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः। तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः॥**', '**……सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः। त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः॥ सर्वलोकशरण्याय राघवाय महात्मने। निवेदयत मां क्षिप्रं विभीषणमुपस्थितम्॥**' (६। १७। १२, १६-१७) अर्थात् 'राक्षसोंके राजा दुष्ट रावणका मैं छोटा भाई हूँ, विभीषण नाम है। उसने दुर्वचन कहकर दासके समान मेरा अपमान किया। मैं स्त्री-पुत्रादि सबका त्यागकर श्रीराघवकी शरण आया हूँ। सब लोकोंको शरण देनेवाले महात्मा श्रीराघवसे आप निवेदन कर दें।' वही यहाँ वानरोंसे कहना समझ लें। गीतावलीमें विभीषणजीने ऐसा ही श्रीरामजीसे कहा है। यथा—*'बंधु अपमान गुरु गलानि चाहत गरन। पतित पावन प्रनतपाल करुना सिंधु! राखिए मोहि सौमित्रि सेवित चरन।'* (५। ४३), *'तुम्हरे रिपुको अनुज बिभीषन बंस निसाचर जायो।'……'* (५। ४४) ['सुनाये' का भाव कि बिना आज्ञा लिये किसी आगन्तुकको राजाके पास ले जाना नीतिविरुद्ध है, यथा—*'भूपद्वार तिन्ह खबर जनाई। दशरथ नृप सुनि लिये बोलाई॥'* (१। २९०), *'तुरत निसाचर एक पठावा। समाचार रावनहि जनावा॥'* (६। १९। १) (मा० त० सु०)]

लमगोड़ाजी—नाटकीय कलाके हिसाबसे भी यहाँ उचित है, नहीं तो उत्कण्ठा भङ्ग हो जाती।

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। आवा मिलन दसानन भाई॥ ४॥

अर्थ—सुग्रीवजीने कहा—हे रघुराई! सुनिये, रावणका भाई मिलने आया है॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) इन शब्दोंसे ज्ञात होता है कि वानरोंने विभीषणजीसे पूछा और उन्होंने सब हाल बताया कि मैं रावणका भाई हूँ, मेरा अपमान हुआ तब मैं शरणमें आया हूँ। (ख) यहाँ सुग्रीवका श्रीरामजीके पास आना नहीं लिखा पर इसका अध्याहार ऊपरसे कर लेना चाहिये कि जैसे वानर सुग्रीवके पास गये वैसे ही सुग्रीव श्रीरामजीके पास आये। यदि कहें कि दोनों एक ही जगह बैठे थे तो शंका होती है कि जब वानरोंने सुग्रीवसे कहा तब श्रीरामजीने भी सुन लिया, सुग्रीवके कहनेकी आवश्यकता ही कहाँ रही? वानरराज सुग्रीव हैं और सुग्रीवके राजा रामजी हैं। इसीसे 'कपीस' और 'रघुराई' पद दिये। वानरोंने सुग्रीवसे कहा और सुग्रीवने रामजीसे [जहाँ राजाओंके अनुकूल काम करनेका भाव होता है वहाँ 'रघुराई' शब्द ग्रन्थकारने प्रयुक्त किया है, यथा—'**इहाँ**

प्रात जागे रघुराई। पूछा मत सब सचिव बोलाई॥' (६। १४। १), *'सुनहु रघुराई'* का भाव कि आपको नीतिका अवलंबन करना आवश्यक है। (मा० त० सु०)]

टिप्पणी—२ *'आवा मिलन दसानन भाई'* में भाव यह है कि इससे क्या हित हो सकता है, रावणने कुछ छल सोचकर किसी उपायसे इसे भेजा है। सुग्रीवके अन्तःकरणका यह अभिप्राय उनके शब्दोंसे झलक रहा है, 'दशाननभाई' का भाव कि आपका प्रबल शत्रु है। दशाननवालेके भाईको एकाननवालेसे क्या प्रयोजन है, इसमें कुछ कपट रहस्य अवश्य है। (पां० प्र०) दशाननके भाईको दूसरा दशानन जानना चाहिये।

कह प्रभु सखा बूझिए काहा। कहै कपीस सुनहु नरनाहा॥५॥
जानि न जाइ निसाचर माया। काम रूप केहि कारन आया॥६॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा*॥७॥

अर्थ—प्रभुने कहा—हे सखे! आपका क्या विचार (राय) है? सुग्रीवने कहा—हे राजन्। सुनिये॥५॥ निशाचरकी माया जानी नहीं जाती, ये कामरूप (इच्छारूप धरनेवाले) होते हैं, न जाने किस कारण आया है॥६॥ यह शठ हमारा भेद लेने आया है। मुझे तो यही अच्छा जान पड़ता है कि इसे बाँध रखिये (अर्थात् बाँध रखनेसे न इसकी माया लगेगी, न इसका कामरूप होना कुछ काम देगा, न इसे कुछ भेद लगेगा, जो कुछ विचार करके आया है उसका वह विचार ही नष्ट हो जायगा)॥७॥

टिप्पणी—१ *'कह प्रभु सखा बूझिए काहा……'।* इति। [(क) *'प्रभु'* का भाव कि सर्वशक्तिमान् हैं, राक्षसों तथा उनकी मायाका नाश करनेमें सदा समर्थ हैं तथापि नीतिका पालन करते हैं, इसीसे मंत्री सखासे पूछते हैं। इस मिस शरणागतिका रहस्य कहेंगे।] सुग्रीवजी नीति कहते हैं, इसीसे 'कपीश' कहा। नरनाहाका भाव कि आप सब नीति जानते हैं, आप नीतिका पालन करें। (ख) सुग्रीवके हृदयका अभिप्राय चौपाईसे दर्शित हो रहा है। श्रीरामजी पूछते हैं कि सखे! इस बातको सोचिये कि क्या बात है? इसपर सुग्रीवको उचित था कि रामजीकी बड़ाई करके तब कहते। यथा—*'अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही॥ मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी॥'* (३। १३। ३-४) इस प्रकार प्रश्न करनेपर अगस्त्यजीने प्रथम उत्तरमें ऐश्वर्य कहकर तब पीछे मन्त्र कहा। यथा—*'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ……॥'* इसी प्रकार वाल्मीकिजीने भी प्रथम रामजीकी बड़ाई की तब चित्रकूटमें निवास करनेको कहा और आगे विभीषणजी भी समुद्र पार होनेकी सलाह पूछे जानेपर प्रथम यह कहकर कि *'कोटिसिंधु सोषक तव सायक।'* जद्यपि तब कहा कि *'तदपि नीति अस गाई'* इत्यादि। पुनः, लंकामें पहुँचनेपर जब प्रभुने *'पूछा मत सब सचिव बोलाई। कहहु बेगि का करिय उपाई॥'* तब *'जामवंत कह पद सिर नाई। सुनु सर्बग्य सकल उरबासी। बुधि बल तेज धर्म गुनरासी॥ मंत्र कहौं निज मति अनुसारा। दूत पठाइए बालिकुमारा॥'* (७। १७)—यह रीति मंत्र देनेकी है। सुग्रीवने इस रीतिका पालन नहीं किया, बड़ी जल्दी विभीषणजीके दोष कहने लगे, इसीसे इनका वचन खण्डित हुआ, यथा—*'सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥'*

नोट—१ मिलान कीजिये—**'अन्तर्धानगता ह्येते राक्षसाः कामरूपिणः। शूराश्च निकृतिज्ञाश्च तेषु जातु न विश्वसेत्॥', 'प्रविष्टः शत्रुसैन्यं हि प्राज्ञः शत्रुरतर्कितः। निहन्यादन्तरं लब्ध्वा उलूको इव वायसान्॥', 'छादयित्वात्मभावं हि चरन्ति शठबुद्धयः। प्रहरन्ति च रंध्रेषु सोऽनर्थः सुमहान्भवेत्॥'** (वाल्मी० ६। १७। २१, २८, ४०) **'रावणेन प्रणिहितं तमवेहि विभीषणम्॥'** (६। १८। १७) अर्थात् राक्षस कामरूप और बलवान् होते हैं, कूट उपायसे वे दूसरेका बुरा किया करते हैं, उनपर विश्वास न करना चाहिये। यह शत्रुकी ओरका कोई भेदिया है जो असावधानीसे हमारी सेनामें घुसकर अवसर पाकर हमलोगोंको मार डालेगा, जैसे उल्लू कौवेको मार डालता है। क्रूर राक्षस अपने मनका भाव छिपाये घूमा करते हैं और

* ब्र० चं०—'कामरूप……' स्वागता, 'जानि……', (७, ८, ९) पायकुलक।

समयपर ऐसा प्रहार करते हैं कि वह महाभयंकर हो उठता है। यह निश्चय ही रावणका भेजा हुआ है। अतः मेरी रायमें इसको दण्ड देना चाहिये। यह जो वाल्मीकीयमें कहा है वह सब *'जानि न जाइ.......भावा'* की ही व्याख्या समझिये।

टिप्पणी—२ *'कामरूप केहि कारन आया'* अर्थात् निशाचर लोग अनेक रूप धरकर छल करते हैं जैसे रावण, मारीच आदिने किया। *'जानि न जाइ'* सबके साथ है, उनकी न तो माया समझ पड़े न रूप, न काम जान पड़े, न प्रयोजन कि क्यों यह आया। आनेका कारण जानना असम्भव है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि भेद लेनेको आया है। यहाँ रावणका इसे भेजना स्पष्ट नहीं कहा, पर आगेके *'भेद लेन पठवा दससीसा'* से यह भाव सिद्ध होता है। [यदि प्रभु कहें कि यह परमधर्मात्मा है, मेरा हितैषी है, मैं जानता हूँ, यथा—*'मैं जानौं तुम्हारि सब रीती.........'*, तो इसपर सुग्रीवजीने 'कामरूप' पद दिया। अर्थात् इसके विभीषण होनेमें भी सन्देह है, कदाचित् कोई राक्षस विभीषणका रूप धारणकर कोई प्रयोजन साधनेके लिये यहाँ आया हो। अतः यहाँ आनेका कारण विचारमें नहीं आता, मैं अपनी बुद्धिके अनुसार नीति कहता हूँ। यह भ्राता बनकर भेद लेने आया है कि रघुनाथजी रावणका भेद पानेके लोभसे उससे तिरस्कृत मुझको अवश्य ग्रहण कर लेंगे। तब मैं इनके गुप्त भेदोंको जानकर रावणको सचेत कर दूँगा। (मा० त० सु०) अङ्गद या देश-देशके यूथपोंमें फोड़फाड़ न कर दे, भेद न डाल दे। (पं०, पां०)]

टिप्पणी—३ (क) दो बातोंका विचार है; वही सुग्रीव कहते हैं कि यदि यह मिलने आया हो तो भी रखने योग्य नहीं; क्योंकि *'जानि न जाइ निसाचर माया.......'*। तात्पर्य यह कि राक्षस मायावी होते हैं; न जाने मिलकर क्या छल करे; हमारे दलमेंसे किसीका रूप धरकर न जाने क्या काम बिगाड़े। जो काम करने आया है वही करनेके लिये यह मिलनेका बहाना करता है। वस्तुतः यह मिलने नहीं आया, यह छली है, भेद लेने आया है। (ख) बाँधनेकी राय दी, क्योंकि हनुमान्‌जी बाँधे गये थे।

श्रीलमगोड़ाजी—आगेके परामर्शमें कितनी विचारोंकी स्वतंत्रता है और अनेक दृष्टिकोणोंका एक दूसरेके प्रति कितना आदर भाव!

प० प० प्र०—१ मानसके सुग्रीवको जो शंका हुई है उसके लिये पर्याप्त स्थान है। वे जानते हैं कि हनुमान्‌जी और विभीषणजीकी मित्रता है। यहाँ इस शंकासे सुग्रीवजीकी नीतिनिपुणता, दूरदर्शिता, सावधानता, रामकार्यतत्परता और वानरोंके कुशलकी चिन्ता इत्यादि अनेक गुण दर्शित किये गये हैं।

प० प० प्र०—२ भेद तीन प्रकारका कहा गया है। यथा—'**स्नेहरागापनयनं संहर्षोत्पादनं तथा। संतर्जनं च भेदज्ञैर्भेदस्तु त्रिविधः स्मृतः।**' अमरव्याख्यासुधा।

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भय हारी॥ ८॥
सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागत बच्छल भगवाना॥ ९॥

अर्थ—हे सखा! तुमने नीति अच्छी विचारी। (पर) शरणागतका भय हरण करना, यह मेरा प्रण है॥ ८॥ प्रभुके वचन सुनकर हनुमान्‌जी हर्षित हुए कि भगवान् शरणागतवत्सल हैं॥ ९॥

मा० त० सु०—१ सखाका भाव कि तुम हमारे शत्रुपक्षका बल विचारने और मेरा कार्य सुधारनेमें तत्पर हो, यथा—*'बल अनुमान सदा हित करई।'* मित्रवाचक शब्द सखा, सुहृद्, बंधु और मित्र चारों हैं, पर इनके अर्थोंमें कुछ (सूक्ष्म) भेद है। वियोगको न सहनेवाला बन्धु, समान वय और बलवाला सखा, एक प्रकारके काममें रहनेवाला मित्र और सदा साथ रहनेवाला सुहृद् कहलाता है।

नोट—१ *'सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी'* का भाव कि आपने जो कहा है ऐसा वही कह सकता है जिसने बहुत कालतक बुद्धिमान् पुरुषोंकी सेवा की हो और शास्त्रोंका अध्ययन किया हो। यथा—'**अनधीत्य च शास्त्राणि वृद्धाननुपसेव्य च। न शक्यमीदृशं वक्तुं यदुवाच हरीश्वरः॥**' (वाल्मी० ६। १८। ८)

टिप्पणी—१ सुग्रीवजीके वचनोंका खण्डन प्रभु बड़े माधुर्यके साथ कर रहे हैं। उनकी खातिरी करते हैं जिसमें वे उदास न हों क्योंकि वे सखा हैं। उसने अपनी मतिके अनुकूल हित कहा है, जैसा सखाका

धर्म है वैसा ही, हितकी बात विचारकर उन्होंने कहा। उनकी खातिरीके लिये प्रभु उनके विचारको 'नीकि' कहते हैं। राय अच्छी है, नीतिके अनुसार है, यह कहकर फिर शरणागति-धर्म समझाते हैं—यह रामजीके स्वभावकी सुन्दरता ग्रन्थकार दिखा रहे हैं। तुमने नीति विचारा और मेरा पण *'शरणागतभयहारी'* है। यथा—*'सकृदेव* **प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥'** (वाल्मी० ६। १८। ३३, अ० रा० ६। ३। १२) अर्थात् मेरा यह नियम है कि जो कोई एक बार भी मेरी शरण आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर अभय माँगता है, मैं उसे समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ। यदि मैं शरणमें न रखूँ तो मेरा प्रण जाता रहेगा और प्रतिज्ञा भंग होनेसे पाप होगा जैसा कि आगे दोहेमें कहते हैं—*'सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित……'*। [भयहारी, यथा—*'मायासंभव भ्रम सब अब न ब्यापिहैं तोहि। जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि॥'*, *'काल कर्म गुन दोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ॥'* पुनः भाव कि मेरा प्रण नष्ट हो जायगा और एक विभीषणके फिरनेसे सब सन्त निराश हो जायँगे। (मा० म०) नीतिके प्रतिकूल चलनेसे हानि होती है; इसका समाधान भी आगे करते हैं कि *'भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥ जग महुँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महुँ तेते॥'*

टिप्पणी—२ *'सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना।……'* इति। सुग्रीव वानरराज हैं, इससे हनुमान्‌जी उनके वचनका खण्डन न कर सके, पर सुनकर बहुत दुखी हुए। जब श्रीरामजीने उनके वचनका खण्डन करके शरणागतिको मुख्य रखा तब सुखी हुए। वे विभीषणजीकी साधुता जानते हैं।

नोट—२ *'हरष हनुमाना'* इति। प्रभुकी भक्तवत्सलता और स्वभाव इन्होंने विभीषणजीसे कहा था (यथा—*'अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर। कीन्ही कृपा……'* इत्यादि) यह पूर्व उस प्रसंगमें दिखा आये हैं। यदि अब प्रभु शरणमें न लेते, सुग्रीवकी बातपर चलते तो भगवान्‌पर भी धब्बा आता। अतः हर्ष हुआ। पुनः भगवान्‌के मुखारविन्दसे उनकी 'भक्तवत्सलता' की प्रतिज्ञा सुनी और यह भी जानकर कि ये केवल भक्तवत्सल ही नहीं किन्तु भगवान् हैं, सब कुछ दे सकते हैं—इन सब कारणोंसे हर्ष हुआ।

प० प० प्र०—(१) सुग्रीवका मत सुनकर विषाद हुआ था। कारण कि जिसने रामकार्यमें सहायता की, सीताजीका पता बताया, उसका त्याग करनेसे प्रभुकी अपकीर्ति होगी। कृतघ्नतारूपी दोष लगेगा। (२) यह कहना कि हनुमान्‌जीने जो विभीषणसे कहा था वह सत्य हो गया इससे उनको हर्ष हुआ, यह सूचित करता है कि कहनेवालेको उनके स्वभावका मर्म समझमें नहीं आया है। भक्तको अपने यश-अपयशके लिये शोक नहीं होता। यह 'अपना' ऐसा कुछ भी मानता ही नहीं। इसीसे तो विभीषणके *'बिप्र कहहु निज कथा बुझाई'* ऐसा कहनेपर भी *'तब हनुमंत कही सब राम कथा'*, अपना चरित्र नहीं कहा।

प्र०—हनुमान्‌जी इस रहस्यके ज्ञाता हैं, अतः उनको हर्ष हुआ।

नोट—३ **बच्छल**=वत्सल। 'शरणागतवत्सल' का भाव कि जैसे नई ब्यायी हुई गाय अपने बछड़ेके मलको स्वयं शुद्ध कर देती है और अपने बच्चेके पीछे अति स्नेहसे दौड़ती है, उसकी रक्षा करती है, वैसे ही भगवान् अपने भक्तको शुद्ध कर लेते हैं और शरणागतकी रक्षामें सदा तत्पर रहते हैं। ऐसा करनेमें वे समर्थ हैं, क्योंकि वे भगवान् हैं। षडैश्वर्यसम्पन्न हैं।

दो०—सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहिं बिलोकत हानि*॥४३॥

---

* 'त्यजति किल तं जयश्रीर्जहति च मित्राणि बन्धुवर्गश्च। भवति च सदोपहास्यो यः किल शरणागतं त्यजति॥' (मृच्छकटिके)। अर्थात् शरणमें आये हुएका त्याग करनेवालेको जयश्री छोड़ देती है और उसके मित्र और बन्धु भी उससे विमुख हो जाते हैं, उसका सदा उपहास होता है। दोनों असम वाक्योंके अर्थमें भिन्नता रहते हुए भी समताभावसूचक आरोप होना 'प्रथम निदर्शन अलङ्कार' है।

ब्र० चं०—४३ कच्छ दोहा है।

अर्थ—जो लोग अपना अनहित विचारकर शरणागतका त्याग करते हैं, वे मनुष्य नीच हैं, पापमय हैं, उन्हें देखते ही हानि होती है॥ ४३॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ शरणागतके त्यागका दोष दिखाते हैं। इसमें ध्वनि यह भी है कि जो अपने हितकी हानि भी करके शरणागतकी रक्षा करते हैं वे धर्मात्मा हैं। उनके दर्शनसे पुण्य होता है। (ख) सुग्रीवजीने हितकी हानि विचारकर राय दी थी कि इसे बाँध रखो। उसपर प्रभु कहते हैं कि तुम इनके रखनेसे हमारे हितकी हानि समझते हो, यह अनुमानमात्र है, वस्तुतः इनसे हमारे हितकी हानि कुछ नहीं है। दूसरे अनहित होता भी हो तो भी उसके विचारसे यदि हम इन्हें शरणमें न लें तो बड़ा भारी पातक होगा, शरण आये हुएका त्याग करनेवालेके दर्शनमात्रसे दूसरोंको पाप लग जाता है तब त्याग करनेवालेके पापका क्या अंदाजा किया जा सके। (ग) *'पाँवर'* का भाव कि वह तो इसे बड़ा समझकर इसकी शरण आया और इसने न रखा, तब यह बड़ा कैसा? यह तो छोटा है, नीच है, तभी तो न रख सका। यह पापमय है, महापातकीके संसर्गसे पातक होता है, अतः कहा कि उसे 'बिलोकत हानि' है।

नोट—१ मिलान कीजिये—'**धर्मो हि महतामेव शरणागतपालनम्। शरणागतं च विप्रं च रोगिणं वृद्धमेव च। य एतान्न च रक्षन्ति ते वै ब्रह्महणो नराः॥ शरणागतशब्देन आगतस्तव सन्निधौ। संरक्षणीयः पोष्यश्च त्वया नास्त्यत्र संशयः॥**' (स्कन्दपु० माहेश्वर-केदारखण्ड ९। ५३-५४) देवर्षि नारदजीने राजा बलिसे कहा कि 'शरणमें आये हुएकी रक्षा करना महापुरुषोंका धर्म है। जो लोग ब्राह्मण, रोगी, वृद्ध तथा शरणागतकी रक्षा नहीं करते वे ब्रह्महत्यारे हैं। इन्द्र इस समय 'शरणागत' शब्दसे अपना परिचय देते हुए तुम्हारे समीप आये हैं। अतः इनका भलीभाँति रक्षण और पोषण करना तुम्हारा कर्तव्य है, इसमें तनिक भी सन्देहकी बात नहीं है। इस श्लोकमेंका '**ते वै ब्रह्महणो नराः**' मानसका *'ते नर पापमय'* है। महापातकी चार कहे गये हैं। उनमेंसे ब्रह्महत्यारा सर्वप्रथम रखा गया है। यथा—'**ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः। एते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत्।**' (याज्ञवल्क्यस्मृति प्रायश्चित्ताध्याय॥) उपर्युक्त श्लोकमें '**ब्रह्महणो**' कहकर शरणागतका त्याग करनेवालेको महापातकी कहा। मानसमें *'पापमय'* कहकर जनाया कि वह महापातकीसे बढ़कर पापी है।

नोट—२ *'निज अनहित अनुमानि'* कहकर जनाया कि अपना अहित भी होता हो तब भी शरणागतका त्याग नहीं ही करना चाहिये, केवल अहितकी शङ्काकी तो बात ही क्या? उसके ग्रहण करनेमें हित-अनहितका विचार करना ही न चाहिये। बिना किसी विचारके शरणागतका कदापि त्याग न करना चाहिये। इस सम्बन्धमें श्रीरामजीने सुग्रीवजीसे एक इतिहास कहा है—एक व्याधाने वनमें एक कबूतरीको पकड़ा, इतनेमें तीव्र वर्षा हुई। व्याधा भूख और शीतसे अत्यन्त व्याकुल उसी वृक्षके नीचे आया जिसपर वह कबूतर रहता था, जिसकी कबूतरीको उसने पहले ही पकड़ा था। कबूतरने अपनी शरणमें आये हुए उस शत्रुको शीतसे आर्त देख सूखे तिनकेका घोंसला गिराकर और कहींसे अग्नि और तिनके लाकर उसका शीत निवारण कर फिर उसकी क्षुधा-निवारणार्थ स्वयं अग्निमें कूद पड़ा। यथा—'**श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः। अर्चितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः॥**' (वाल्मी० ६। १८। २४) यह इतिहास कहकर श्रीरामजीने कहा कि जब एक पक्षीने शरणमें हुए अपनी भार्याको मार डालनेवाले शत्रु व्याधाका निरादर न करके यथाविधि उसका सम्मान ही किया तब मनुष्य होकर मैं शरणमें आये हुए शत्रुको कैसे त्याग सकता हूँ?

इस सुने हुए इतिहासको कहकर फिर उन्होंने धर्मिष्ठ सत्यवादी परमर्षि कण्डुजीके वाक्य कहे—'**बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्। न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परन्तप॥ आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणंगतः। अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥ स चेद् भयाद्वा मोहाद्वा कामाद्वापि न रक्षति। स्वया शक्त्या यथान्यायं तत्पापं लोकगर्हितम्॥ विनष्टः पश्यतस्तस्य रक्षिणः शरणं गतः। आदाय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः।**' (वाल्मी० ६। १८। २७—३१) अर्थात् कोई भी जो हाथ जोड़े हुए दीनभावसे शरणमें आये, चाहे वह शत्रु ही क्यों न हो तो धर्मरक्षार्थ उसे मारना न चाहिये। शत्रु आर्त हो वा अहंकारयुक्त हो

पर यदि वह कातरभावसे शरणमें आये तो प्राण देकर भी उसकी रक्षा करनी चाहिये। यदि भय वा मोह आदिके कारण मनुष्य शरणागतकी रक्षा नहीं करता तो वह पापग्रस्त और निन्दित होता है। यदि शरणागतकी रक्षा न करनेसे उसका नाश हो जाता है तो उसकी रक्षा न करनेवालेके समस्त पुण्य उस शरणागतको प्राप्त हो जाते हैं।

यह जो श्रीरामजीने सुग्रीवजीसे कहा है वह सब गोस्वामीजीने इस दोहेसे सूचित कर दिया है। शरणमें आना किसे कहते हैं यह भी यहाँ बता दिया है।

श्रीभरताचार्यजीने शरणागतिके ये लक्षण कहे हैं **'अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः॥'** (सि० ति० से उद्धृत श्लोक) अर्थात् अपने अभीष्टको अन्य उपायोंसे सिद्ध होता न देखकर महाविश्वासपूर्वक 'आप ही मेरे उपाय हैं' ऐसी प्रार्थना करना शरणागति है।

परमर्षि कण्डुकी धर्मगाथा *'सरनागत कहँ……'* इस दोहेकी पूरी व्याख्या है। *'ते नर'* में कपोतका इतिहास कहकर जो श्रीरामजीने कहा है। **'सहितं प्रतिजग्राह भार्याहर्तारमागतम्। कपोतो वानरश्रेष्ठ किं पुनर्मद्विधो जनः॥'** (२५) उसका भाव जना दिया है। अर्थात् शरणमें न लेनेसे हम मनुष्य कहलाने योग्य नहीं रह जायँगे, हम तो पशु-पक्षीसे भी गये-बीते समझे जायँगे।

'तिन्हहिं बिलोकत हानि' में परमर्षि कण्डुजीके **'तत्पापं लोकगर्हितम्'** का भाव है। भाव कि विभीषणका त्याग करनेसे हम लोकमें ऐसे निन्दित हो जायँगे कि कोई हमारा मुख न देखना चाहेगा। और जो शरणागतका त्याग करता है मैं उसका मुख नहीं देखता तब भला मैं स्वयं शरणागतका त्याग कैसे कर सकता हूँ?

कोटि बिप्र बध लागहि जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू॥ १॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥ २॥
पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ*॥ ३॥

अर्थ—जिसे करोड़ों ब्राह्मणोंके वधका (हत्या) भी लगा हो उसे भी शरण आनेपर मैं नहीं त्याग करता॥ १॥ जीव जभी मेरे सम्मुख होता है उसके करोड़ों जन्मोंके पाप तभी (उसी समय) नष्ट हो जाते हैं॥ २॥ पापीका यह सहज स्वभाव है कि मेरा भजन उसे कभी नहीं भाता॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'कोटि बिप्र बध लागहि जाहू……'* इति। भाव यह कि शरणागतके त्याग करनेवालेका तो मैं मुख नहीं देखता पर जिसे अगणित ब्रह्महत्याएँ भी लगी हों उसे शरणमें ले लेता हूँ; क्योंकि जिन्होंने शरणागतकी रक्षा न की वे तो पापमय हो गये हैं—*'ते नर पाँवर पापमय'*—और कोटि विप्रवध करनेवाला पापमय नहीं हुआ। इसे जो पाप लगा है उसे मैं छुड़ा सकता हूँ, यही बात आगे कहते हैं—*'सनमुख होइ……'*। इससे जनाया कि शरणागत भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है। [गी० सुं० ४५ में प्रभुने अपना जो सहज स्वभाव कहा है, उसे *'आए सरन……'* की व्याख्या समझिये—*'सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ। सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्ह सन कवन दुराउ॥ सब बिधि हीन दीन अति जड़मति जाको कतहुँ न ठाँउ। आये सरन भजौं न तजौं तिहि यह जानत रिषिराउ॥ जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित नाहिन और उपाउ। तिन्हहिं लागि धरि देह करौं सब डरौं न सुजस नसाउ॥ पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौं सकल सभा पतिआउ। नहिं कोउ प्रिय मोहि दास सम कपट प्रीति बहि जाउ॥ सुनि रघुपतिके बचन बिभीषन प्रेम मगन मन चाउ। तुलसिदास तजि आस त्रास सब ऐसे प्रभु कहँ गाउ'* (१-५)]

मा० त० सु०—अरण्यकाण्डमें तो यह कह आये कि *'मोहि न सुहाइ बिप्रकुलद्रोही'* और यहाँ उसके विपरीत कहते हैं *'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू॥'* यह कैसा? समाधान—वहाँ उन जीवोंके लिये प्रवृत्तिमार्गमें वैसा उपदेश है जो सामान्य वर्णाश्रमधर्ममें प्रवृत्त हैं और यहाँ सर्वपरित्यागपूर्वक निवृत्तिमार्ग (भगवच्छरणागति) विषयक अभिप्राय है।

* 'कोटि' स्वागता, 'आए……' 'सनमुख……' 'पापवंत……', (४, ५) पादाकुलक, 'जन्म……' चन्द्रवर्त्म, 'भजन', द्रुतपा।

गौड़जी—कबन्धके प्रसंगमें जब उसने शाप देनेवाले ऋषिकी तिरस्कारवाली बात कही तो उसपर भगवान्ने अपना स्वभाव बतलाया कि मुझे ब्रह्मकुलद्रोही नहीं सुहाता; यह तो बिलकुल ठीक ही है। उस प्रसंगमें यह तो नहीं कहा है कि जिसे विप्रवध लगा हो वह शरणमें आवे तब भी न रखूँगा। पापी प्राणी तो कभी भगवद्-शरणागतिमें आ ही नहीं सकता, पाप करके जो पछताता कि हा! मैंने यह घोरकर्म कैसे कर डाला! अब मुझे भगवच्छरण छोड़कर और कहाँ गति है, ऐसा सोचकर जो शरणागत होता है,—गुनाहके बाद तोबा करके जो प्रभुके पास जाता है, उसे प्रभु त्याग नहीं करते। कबन्ध यदि शरणमें आया होता तो बात दूसरी थी; वह तो वरके प्रभावसे भगवान्के करकमलोंसे मुक्त हुआ। वह शरणागत भक्त नहीं था। रही पापवाली बात, उसके सम्बन्धमें तो श्रीगीताजीमें साफ है—'**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥**' '**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥**' (गीता ९। ३०-३१)

कैसा ही दुराचारी हो, जो मुझे अनन्यभावसे भजे उसे साधु ही मानना चाहिये। (जब अनन्य भावसे भजेगा तब सारे जगत्को प्रभुसे अन्य देखेगा ही नहीं—'*निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।*' (७। ११२), '*मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।*' (४। ३); वह तो सम्यक् रीत्या पूरी तौरपर व्यवसित है, वह पूर्णतया और निश्चितरूपसे पापवृत्तियोंसे रहित हो गया है। (क्योंकि अब उसका अच्छा संकल्प है। अनन्य भक्ति दुराचारको शान्त कर देती है।) वह तुरंत धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर शान्ति पाता है। हे कौन्तेय! तू निश्चयपूर्वक जानना कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।

टिप्पणी—२ '*सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं*……' इति। यह शरणका माहात्म्य कहा। पापीको नहीं त्याग करते, यह अपना स्वभाव कहा था, यथा—'*सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥*……' (४८। १-३) और यहाँ शरणका फल कहकर आगे पापीका स्वभाव कहते हैं—'*पापवंत कर*……'।

टिप्पणी—३ कोटि विप्रवध कोटि जन्म करे ऐसा भी पाप नष्ट हो जाता है, यह अभिप्राय दर्शित करनेके लिये '*कोटि बिप्र बध लागहि जाहू*' कहा। इसमें 'अघ' शब्द न दिया किन्तु '*जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं*' इसमें दिया! ऐसा करके दोनों चरणोंका अर्थ एक ही जनाया। ☞ भगवान्के सम्मुख हो तब पाप नाश होवे, पापके नाशसे भजन अच्छा लगेगा, भजनसे मन निर्मल होनेपर प्रभुकी प्राप्ति होती है—यह प्रभुके उपदेशका खुलासा है।

मा० त० सु०—'*कोटि बिप्र बध*……' यह एक जन्मका सूचक हुआ। इसपर यह संदेह हुआ कि यदि एक जन्ममें इतना पाप करनेपर भी शरण न हुआ और इसी तरह और भी दो-चार जन्मोंतक ऐसा ही पाप करता गया तब यदि जीव शरणमें जाय, तो क्या उसको न ग्रहण करेंगे? इस शंकाकी निवृत्तिके लिये परमदयालु प्रभुने कहा कि प्रत्येक जन्ममें कोटि-विप्रवधका पाप लग जानेपर भी जभी वह शरण हो उसी समय'*जन्म कोटि अघ नासहिं*'। अभिप्राय कि किसी प्रकार भी हमारी शरण हो जाना ही कल्याणकारक है।

रा० शं० श०—'*कोटि बिप्र बध*……' से यहाँतकका आशय यह है कि जो जान-बूझकर इस विचारसे पाप करे कि इसके उपरान्त शरणमें जाकर पाप छुड़ा लूँगा उस मनुष्यकी आशा व्यर्थ है।

टिप्पणी—४ '*पापवंत कर सहज सुभाऊ*……' इति। भाव यह कि मैं पापीको शरण आनेपर त्याग कभी नहीं करता, रहा पापी सो उसे हमारा भजन अच्छा ही नहीं लगता क्योंकि भजनका बाधक पाप है, यथा—'*एकहि एक सिखावत जपत न आप। तुलसी राम भजन कर बाधक पाप॥*' (बरवै रा० ६४) बिना सम्मुख हुए पापी बना रहा, इसीसे भजन नहीं भाता। इस कथनका तात्पर्य यह है कि विभीषण शुद्ध हैं तभी शरणमें आये हैं, यथा—'**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।**' (गीता ७। १५)

जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई॥४॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥५॥

अर्थ—जो निश्चय ही वह वैसा दुष्टहृदय होगा (जैसा तुमने कहा है, यथा—'*जानि न जाइ*……' इत्यादि) तो क्या वह मेरे सम्मुख आ सकता है?॥ ४॥ जो जन निर्मल मन है वही मुझे पाता है। मुझे कपट छल-छिद्र नहीं सोहाता॥ ५॥

नोट—१ गीतामें इससे मिलता हुआ भगवद्वाक्य यह है—'**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥**' (७। १५) अर्थात् मूढ़, नराधम, मायासे हरे गये ज्ञानवाले और आसुरी प्रकृतिका आश्रय लिये हुए पापाचारी मनुष्य मेरी शरण ग्रहण नहीं करते।

यहाँ '*दुष्ट हृदय*' कहकर श्लोकके चारों प्रकारके दुष्ट कर्म करनेवाले पापाचारी लोगोंको सूचित किया है। इनमेंसे 'मूढ़' वे हैं जो भगवान्‌के स्वरूपको न समझनेके कारण प्राकृत विषयोंमें आसक्त रहते हैं और जो आत्माको और भोग्यवस्तु मात्रको अपने अधीन समझते हैं। ये विपरीत ज्ञानी मनुष्य ही मूढ़ हैं। 'नराधम' वे हैं जो सामान्यतया प्रभुके स्वरूपको जाननेपर भी सम्मुख होनेके योग्य नहीं हैं। '**माययाऽपहृतज्ञानाः**' वे हैं जिनको स्वरूप और ऐश्वर्यका ज्ञान होनेपर भी उनका ज्ञान कूट युक्तियोंद्वारा हर लिया गया है। और '**आसुरं भावमाश्रिताः**' असुरोंके भावका आश्रयण करनेवाले वे हैं जिन्हें प्रभुके स्वरूप और ऐश्वर्यका सर्वथा सुदृढ़ ज्ञान प्राप्त है पर वह ज्ञान केवल मुझमें द्वेष उत्पन्न करनेवाला है। ये चारों क्रमशः एक-से-एक बढ़कर अधिक पापी हैं। (श्रीरामानुजभाष्य)

'**न मां प्रपद्यन्ते**' ही '*मोरे सनमुख आव कि सोई*' है। सम्मुख होना शरणमें आना है।

पूर्व जो सुग्रीवजीने कहा है कि '*जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥ भेद हमार लेन सठ आवा*'। और आगे जो भगवान्‌ने 'निर्मलता' के विपर्ययमें कहा है कि '*मोहि कपट छल छिद्र न भावा।*' वह सब भी 'दुष्ट-हृदय' की व्याख्या ही है।

इन दोनों चौपाइयोंका भाव यह है कि विभीषण शरणमें आया है, अतः वह दुष्ट-हृदय नहीं है, किंतु निर्मल-हृदय है। गीतावलीमें प्रभु श्रीहनुमान्‌जीसे कहते हैं—'*सुमति साधु सुचि सुहद बिभीषन बूझि परत अनुमान सों।*' इसपर हनुमान्‌जी बलिहारी जाते हैं—'*हौं बलि जाउँ और को जानै? कही कपि कृपानिधान सों। छली न होइ स्वामि सन्मुख ज्यौं तिमिर सातहय जान सों॥*' अर्थात् जैसे सूर्यके समीप अन्धकार नहीं आ सकता, वैसे ही छलिया स्वामीके सम्मुख कदापि नहीं आ सकता। यही बात मानसमें '*निर्मल मन जन सो मोहि पावा*……।' से कही गयी। कपट छल-छिद्र अन्धकाररूप हैं, भगवान् सूर्यरूप हैं।

पुनः, 'दुष्ट हृदय' से जनाया कि ऊपरसे चाहे दुष्ट हो पर हृदयका दुष्ट न हो तो भी सम्मुख आ सकता है। महर्षिकण्डुकी धर्मगाथामें शरणागतका लक्षण बताया है कि वह हाथ जोड़े हुए दीन सभीत होकर रक्षाके लिये शरणमें आता है। दुष्ट हृदयमें यह भाव, यह दीनता आ ही नहीं सकती, इसीसे वह शरणमें आ ही नहीं सकता।

☞ जीव जब भगवान्‌की शरणमें जाता है तब जिन शब्दोंसे वह शरण होता है वे ये हैं—'**न्यस्याम्यकिञ्चनः श्रीमन्ननुकूलस्य वर्जितः। विश्वासप्रार्थनापूर्वमात्मरक्षाभरं त्वयि॥ स्वामिन् स्वशेषं स्ववशं स्वरक्षात्वेन निर्भरम्। स्वदत्तसुधिया स्वार्थं स्वस्मिन् न्यससि मां स्वयम्॥ श्रीमन्नभीष्टवरद त्वामहं शरणं गतः। एतद्देहावसाने मां त्वत्पादं प्रापय स्वयम्॥ त्वच्छेषत्वे स्थिरमतित्वत्प्राप्त्यैकप्रयोजनम्। निषिद्धकाम्यरहितं कुरु मां नित्यकिंकरम्॥ देवीं भूषणं ह्येत्यादि जुष्टस्य भगवंस्तव। नित्यं निरपराधेषु कैंकर्येषु नियुङ्क्ष माम्॥ मां मदीयं च निखिलं चेतनाचेतनात्मकम्। स्वकैंकर्योपकरणं वरद स्वीकुरु स्वयम्॥ त्वदेकरक्षस्य मम त्वमेव करुणाकर। न प्रवृत्तय पापानि प्रवृत्तानि निवारय॥ श्रीमन्नियतपंचाङ्गं मद्रक्षणभरार्पणम्। अचीकरः स्वयं स्वस्मिन्नतोऽहमिह निर्भरः॥ स्वाग्रे पतितं दृष्ट्वा श्रुत्वा च प्रार्थनामिमाम्। अङ्गीचकार श्रीरामस्तदप्यस्मीह निर्भरः॥**' (१—९) इस तरह आचार्य उसकी शरणागति कराते हैं।—यह शरणागतिका प्रसङ्ग है, इससे जिज्ञासुओंके लिये हमने ये मन्त्र यहाँ दे दिये जिसमें इससे लोग लाभ उठावें।

टिप्पणी—१ '*जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई*' इति। कहनेका तात्पर्य कि रावणको कोटि विप्रवध लगा

है, यदि वह भी शरण आवे तो मैं उसे भी न त्यागूँ। पर वह दुष्टहृदय है। वह मेरे सम्मुख आवेगा ही नहीं। विभीषण निर्मल हृदय है; इसीसे मेरी शरण आया है। सम्मुख होते ही हम कोटिजन्मोंके भी पाप नाश कर सकते हैं, रहा दुष्ट वह तो सम्मुख होता ही नहीं—ये दो बातें कहकर दोनोंके अधिकारी कह फिर शरण न होनेमें हानि कही—क्रमसे यथा—

१—*कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजौं नहि ताहू॥* } का *पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥* } से सम्बन्ध है

अर्थात् हम पापीको भी नहीं त्यागते पर वही हमको नहीं भजता।

२—*सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्मकोटि अघ नासहिं तबहीं॥* } का *जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई॥* } से सम्बन्ध है

अर्थात् सम्मुख होते ही पाप नाशको प्राप्त हो जाते हैं पर वह सम्मुख ही नहीं होता।

३—भगवत्-शरणका बाधक हृदयकी दुष्टता है।

टिप्पणी—२ '*निर्मल मन जन सो मोहि पावा*……' इति। तात्पर्य कि यदि विभीषण कपटी होते तो मुझे कैसे सुहाते? हम कैसे उन्हें शरण रखनेको कहते? मैं उनको रुचता हूँ, वह मुझे सुहाता है, इसीसे समझ लो कि वह निष्कपट है। अथवा, जो पापी होता तो हमारा भजन कैसे रुचता? जो दुष्टहृदय होता तो सम्मुख कैसे आता? जो मलिन मन होता तो हमको कैसे पाता? सुग्रीवने विभीषणको कपटी और छली कहा था—'*जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥*' श्रीरामजी उसीका खण्डन कर रहे हैं कि मैं दुष्ट-हृदयको नहीं प्राप्त होता, मुझे कपट-छल-छिद्र नहीं रुचता। 'कपटछलछिद्र' होना यही हृदयकी दुष्टता है—यह यहाँ स्पष्ट कर दिया।

नोट—२ निर्मल=षट्विकाररहित, शुद्ध निर्विकार। कपट=अभिप्रायसाधनके लिये हृदयकी बातको छिपानेकी वृत्ति, यथा—'*जो जिय होत न कपट कुचाली। केहि सुहात रथ बाजि गजाली॥*' छल=वह व्यवहार जो दूसरेको धोखा देनेके लिये हो, वास्तविक रूप छिपानेका कार्य जिससे कोई वस्तु या बात और-की-और देख पड़े। छिद्र=दोष। छलछिद्र यौगिक शब्द भी है।

करु०—'*न भावा*' का दूसरा भाव यह कि यदि कोई कपटछलयुक्त हो और फिर भी मेरी शरण आवे तो सम्मुख आते ही उसका कपट-छल दूर हो जाता है, वह निर्मल हो जाता है।

भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥ ६॥
जग महुँ सखा निसाचर जेते। लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते॥ ७॥
जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाई*॥ ८॥

अर्थ—दशशीश-(रावण-) ने भेद लेने भेजा हो तो भी, हे वानरराज! कुछ भय या हानि नहीं है॥ ६॥ हे सखे! जगत्‌भरमें जितने भी निशाचर हैं, लक्ष्मणजी उन सबोंको पलभरमें मार सकते हैं॥ ७॥ यदि वह सभीत होकर शरणमें आया है तो उसे प्राणोंकी तरह रखूँगा॥ ८॥

टिप्पणी—१ '*भेद लेन पठवा दससीसा*……' इति। [(क) भाव कि उसे रावणने कभी भी भेद लेने न भेजा होगा, क्योंकि उसे अपने दस सिर होनेका, शिव-ब्रह्माके वरदानोंद्वारा प्राप्त बलका गर्व है, तो भी यदि मान लें कि उसने भेजा हो] (ख) सुग्रीवका मन और मान्य रखनेके लिये अब संदिग्ध वचन कह रहे हैं। अथवा, सुग्रीवका पक्ष लेकर उसमें भी विभीषणको निष्कपट दिखाते हैं अर्थात् तुमने जो कहा कि भेद लेने भेजा गया है, यह भी ठीक सही, तो भी उसका दोष इसमें क्या? वह तो भेजनेसे आया है फिर भी उसका मन निर्मल ही है। इससे सूचित किया कि प्रभु विभीषणजीकी रीति जानते हैं, इसीसे ऐसा कह रहे हैं। यथा—'*मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती*……।' (ग) '*पठवा दससीसा*' का भाव

* ब्र० चं० 'भेद……' स्वागता, 'तबहु……' चण्डी, शेष पायकुलक।

कि सुग्रीवजी विभीषणजीको कपटी सिद्ध करनेके लिये कहते हैं कि इसे रावणने भेजा है, पर यह कहता है कि मैं स्वयं आया हूँ, यह कपट है। उसी बातको लेकर श्रीरामजी उसका समाधान करते हैं कि जगत्‌भरके निशाचरोंको लक्ष्मणजी मार सकते हैं तब ये लङ्काके राक्षस कितने हैं जो उनसे डरते हो।

मा० त० सु०—(क) *'पठवा दससीसा'* का भाव कि केवल भेद जानकर ही छलपूर्वक हमसे विजय चाहता है। (ख)—'तबहूँ'=हमारा भेद प्रकट हो जानेपर भी। (ग) बारम्बार *'सखा'* सम्बोधनसे अपना उनपर अति स्नेह जनाया—(इस प्रकार उसका मन रख रहे हैं, उनको प्रसन्न करके विभीषणजीको शरणमें लेंगे)।

टिप्पणी—२ *'लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते'* इति। (क) यहाँ ऐश्वर्य (ईश्वरता) दिखाते हैं। ईश्वरका पलक बंद करना प्रलय है, पलक खोलना सृष्टिकी स्थिति है। (ख) *'लछिमनु हनइ'* का भाव कि हमको कुछ भी न करना पड़ेगा। हम तो लीला करते हैं। निशाचर-नाशके लिये लक्ष्मणजीका अवतार है, यथा—*'सेष सहस्त्रसीस जगकारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन॥'* (१। १७), *'सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारै भुवन चारिदस आसू॥'* (६। ५४। १), *'जो सहस सीस अहीस महिधर लषन सचराचर धनी। सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी॥'* (२। १२६) **'ब्राह्मस्त्रं प्रयोक्ष्यामि वधार्थं सर्वरक्षसाम्।'**(वाल्मी० ६। ८०। ३७) (अर्थात् मैं संसारके समस्त राक्षसोंके वधके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करना चाहता हूँ। यह लक्ष्मणजीने श्रीरामजीसे कहा था। जब मेघनादने अन्तरिक्षमें छिपे हुए सारी सेना तथा श्रीराम-लक्ष्मणको बाणोंसे बेध डाला था। श्रीलक्ष्मणजीमें यह सामर्थ्य है, इसीसे श्रीरामजीने उन्हें समझाकर रोका कि एकके कारण सबका नाश करना उचित नहीं है) तात्पर्य कि ऐसे बलीसे कौन भेद लग सकेगा? यथा—'**न भेदसाध्या बलदर्पिता जना:।**' (वाल्मी० ५। ४१। ३) *'निमिष महँ'* यथा—*'जारै भुवन चारिदस आसू।'*

'लछिमनु हनइ निमिष महँ'। यहाँ अपना पराक्रम न कहा। श्रीराघवजीने विचारा कि सप्ततालवेधन आदिसे यह सामर्थ्य तो जान ही चुका है, अब लक्ष्मणजीका भी ऐश्वर्य इसे स्मरण करा देना चाहिये; अतएव प्रसंग पाकर जना दिया। *'निमिष महुँ'* अर्थात् इच्छामात्रसे।

प्र०—प्रभु अपना पराक्रम नहीं कहते, यह उनकी रीति है। युद्धमें देवतादिसे भी और जानकीजीसे रणभूमि दिखाते समय लक्ष्मण आदिका ही नाम लिया। यथा—*'कह रघुबीर देखु रन सीता। लछिमन इहाँ हतेउ इंद्रजीता॥ हनुमान अंगदके मारे।……'* (लं० ११८)

मा० म०—लक्ष्मण निमिषमात्रमें मार सकते हैं। संदर्भ यह कि यदि विभीषण निशाचर बुद्धिमय होगा तो लक्ष्मणजी उसका छल और कपट पहिचानकर उचित दंड देंगे। ऐसा कहनेसे सुग्रीव लक्ष्मणजीको अपने विचारमें न सहमत कर सकेंगे।

टिप्पणी—३ *'जौं सभीत आवा सरनाई।……'* इति। (क) सभीतका भाव कि यदि वह भयसहित यहाँ आया है तो हम उसका भय हरण करेंगे; क्योंकि *'मम पन सरनागत भयहारी।'* है। उसे जो भी भय होगा वह हम हरण करेंगे—चाहे संसारका भय हो, चाहे शत्रुका और चाहे पापका। (ख) *'प्रान की नाईं'* अर्थात् शरणागत मुझे प्राण-समान प्रिय है, यथा—*'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।'* प्रभुने प्राण-समान रखनेको कहा और रखा प्राणसे भी अधिक मानकर, यथा—*'आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥ तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सो सेला॥'* (६। ९३। १-२) यहाँ धर्मलुप्तोपमा अलङ्कार है।

टिप्पणी—४ शरणागत-पालनमें रामजी अद्वितीय हैं इसीसे उसमें लक्ष्मणजीका नाम न लिया और राक्षसवधमें लक्ष्मणजी अद्वितीय हैं इसीसे उस सम्बन्धमें अपना नाम न लिया।

मा० त० सु०—*'कोटि बिप्र बध……'* से *'जन्मकोटि अघ……'* तक दो चौपाइयोंमें जो कुछ कहा, उसका वहाँ पाप नाश करनेमें मुख्य तात्पर्य है।……और, *'जौं सभीत……'* से जनाया कि यदि लोक वा परलोकके भयसे शरणमें आया हो तो उसको प्राणोंके समान रखूँगा।

नोट—१ वाल्मीकीयके **'स दुष्टो वाप्यदुष्टो वा किमेष रजनीचरः॥ सूक्ष्ममप्यहितं कर्त्तुं मम शक्तः कथंचन॥ पिशाचान् दानवान् यक्षान् पृथिव्यां चैव राक्षसान्। अङ्गुल्यग्रेण तान्हन्यामिच्छन् हरिगणेश्वर॥', 'आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः। अरिः प्राणान्परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥', 'आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया। विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥'** (वाल्मी० ६। १८। २२-२३, २८, ३४) इस वाक्यसे मिलान कीजिये। अर्थात् वह दुष्ट हो वा साधु, यह राक्षस क्या चीज है? यह हमारा किंचित् भी अहित करनेमें समर्थ नहीं। जितने भी पिशाच, दानव, यक्ष और राक्षस पृथ्वीपर हैं उनको, हे कपीश! अंगुलीके अग्रभागके इशारेसे ही, यदि मैं चाहूँ, मार सकता हूँ। कृतात्मा-(महात्मा-) की शरणमें यदि कोई आर्त या दर्पपूर्ण शत्रु भी आये तो अपने प्राणोंको भी देकर उसकी रक्षा करे। हे कपिश्रेष्ठ सुग्रीव! उसे ले आओ, मैंने उसे अभय दिया; चाहे वह विभीषण हो और चाहे स्वयं रावण ही क्यों न हो।

दो०—उभय भाँति तेहि आनहु हँसि कह कृपा निकेत।
जय कृपाल कहि कपि चले अंगद हनू समेत*॥ ४४॥

अर्थ—कृपाके स्थान श्रीरामजीने हँसकर कहा कि दोनों ही प्रकारसे उसे ले आओ (अर्थात् चाहे भेद लेने आया हो, चाहे शरणमें आया हो)। 'जय कृपाल' (कृपालु श्रीरामजीकी जय!) ऐसा कहकर श्रीअंगद और हनुमान्‌जीके सहित वानर चले॥ ४४॥

श्रीलमगोड़ाजी—'*उभय*' भाँतिमें दूसरे पक्षका कितना आदर है। भगवान् कहते हैं कि भाई! सावधानी भी रखो और ले भी जाओ? तुम्हारी नीति भी रहे और मेरा शरणागतवत्सल धर्म भी।

'*हँसि*' पर तो हास्यकला ही निछावर है। इसमें कितनी कृपालुता है और कितनी निर्भयता तथा कितनी हँसमुखता भरी हुई है! और साथ ही किंचित् सुग्रीवजीकी चुटकी भी है कि पाँच व्यक्तियोंके इतने कटकमें गुप्त नहीं वरन् खुले खजाना आनेपर भी धोखा खा गये वा डर गये।

वि० त्रि०—'*उभय भाँति*' इति। सरकारने कहा कि दोनों भाँतिसे, अर्थात् भेदियाकी भाँति भी और शरणागतकी भाँति भी विभीषणको ले आओ। इस दुरंगी आज्ञाको बुद्धिमान् बन्दर तुरंत समझ गये और अंगद हनुमान्‌के साथ चल पड़े। तीन ओरसे विभीषणजीको घेरकर ले चले। एक हिसाबसे विभीषणजी पहरेमें हैं, दूसरे हिसाबमें सेनाके प्रधान लेने आये हैं और विभीषणजीको आगे करके चल रहे हैं। इस भाँति सरकारकी कही हुई आज्ञाका—'*उभय भाँति*' का पालन हुआ।

नोट—१ '*उभय भाँति*' का भाव कि भेद लेने आया हो वा शरणागत हो, वह रावण ही विभीषणके वेशमें हो अथवा विभीषण ही हो, दुष्ट हो अथवा साधु हो, उसके ले आनेमें संकोच न करो। ऊपर चौपाईमें उद्धृत श्लोक देखिये।

नं० प०—श्रीरामजीके इतना समझानेपर सुग्रीवजीने जब कुछ उत्तर न दिया तब यह जानकर कि वे अपनी नीतिके हठपर हैं, उन्होंने हँसकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा कि दोनों प्रकारसे ले आओ, मर्यादाके साथ लाना, बंदी बनाकर न लाना।

टिप्पणी—१ '*कृपा निकेत*' कहा क्योंकि विभीषणजीपर कृपा करके उन्हें ले आनेको कहा। यह कृपा देखकर वानरलोग भी आनन्दमें भरकर बोल उठे कि कृपालुकी जय हो। यथा—'***सुनि प्रभु बचन कहहिं कपिबृंदा। जय जय जय कृपाल सुखकंदा।***' (३४। ५), '***राम बचन सुनि बानर जूथा। सकल कहहिं जय कृपा बरूथा॥***'

[शत्रु-मित्र दोनोंपर भगवान्‌ने कृपालुता गुणकी प्रधानता दिखायी, अतः '*कृपा निकेत*' विशेषण दिया। (मा० त० सु०)। विभीषणजी अभी प्रत्यक्ष शरणमें आये भी नहीं तथापि कृपाकिरणोंकी अविरल वर्षा पहिले ही की गयी। अतः कृपानिकेत कहा। (प० प० प्र०)]

* ब्र० चं०—दोहरा दोहा मिश्रित।

टिप्पणी—२ *'हँसि कह'* से जनाया कि—(क) हम दोनों तरहसे प्रसन्न हैं। (ख) हमारी कृपा विभीषणपर है, यथा—*'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥'* (१। १९८। ७) [नोट—हँसकर कहनेमें यह भी भाव है कि जिससे सुग्रीवको बुरा न लगे (प्र० सं०)। अथवा, एक दुर्जनके कपटसे लोग सज्जनके विषयमें शंकित होते हैं, यह मायाका प्रताप देखकर हँसे (प० प० प्र०)। वा, एक भक्तकी प्राप्ति हुई इससे प्रसन्न हुए।]

टिप्पणी—३ *'अंगद हनू समेत'* इति। विभीषण राजा हैं। उनको लानेको राजकुमार अंगद और राजके मन्त्री हनुमान्‌जी चले। जैसा कुछ राजाओंके मिलनेका कायदा है वैसा श्रीरामजीकी तरफसे हुआ। जैसे विभीषण राजा नहीं हैं, राजाके भाई हैं; वैसे ही यहाँ अंगद खास राजा नहीं हैं, युवराज हैं और राजाके पुत्र हैं। विभीषण छोटा भाई है, छोटा भाई पुत्रके समान होता है इसीसे सुग्रीवने अपने लड़के अंगदको भेजा। पुनः, अप्रधानको प्रधान बनाने चले हैं; इसीसे यहाँ अप्रधान-(वानर-) को प्रधान रखा। अंगद-हनुमान् प्रधान हैं। इनको यहाँ गौण रखा, इनके साथ *'समेत'* शब्द देकर जनाया कि वानर यहाँ प्रधान हैं, उनके साथ ये भी हैं अर्थात् इनको सामान्य जनाया। पुनः, *'हनू'* यहाँ पूरा नाम न दिया। एक कारण तो यह है कि छन्दहेतु ऐसा किया—*'हनू'* से हनुमान्‌का ग्रहण होगा, यथा—**'नामैकदेशे नामग्रहणम्'** (व्याकरणसूत्र)। दूसरा भाव यह है कि भक्तसे मिलने जाय तब मान छोड़कर जाय यह जनानेके लिये 'हनूमान' नामसे जो 'मान' ये अक्षर हैं इन्हें भी कविने निकाल दिया—यहाँतक 'मान' त्यागकी पराकाष्ठा दिखायी।

प० प० प्र०—नामके अंशसे सम्पूर्ण नामका बोध होता है। जैसे, अमा=अमावस्या। सत्या वा भामा=सत्यभामा। तथापि यहाँ *'कृपा निकेत'* शब्दका प्रयोग करनेकी इच्छासे *'हनू'* का प्रयोग करना पड़ा, नहीं तो कृपानिधान लिखकर उसकी जोड़में हनुमान् शब्द रख सकते थे। *निकेत*=**नि केत्यते अस्मिन् इति निकेत। कित निवासे॥** जिसमें नित्य निवास किया जाता है उसीको 'निकेत' कहते हैं। भाव यह है कि अब विभीषणजी भगवान्‌के कृपारूपी निकेत-(भवन-) में नित्य निवास करेंगे। यह भाव 'कृपानिधान' शब्दसे नहीं सूचित होता।

मा० त० सु०—*'अंगद हनू समेत'* का भाव कि शरणागत धर्ममें अङ्गद और हनुमान्‌जी मुख्य हैं। अङ्गद यथा—*'गहि बाँह सुरनरनाह अंगद दास आपन कीजिये'*; इसका फल *'पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही॥'* हनुमान्‌जी यथा—*'तब रघुपति उठाइ उर लावा। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।'*

सादर तेहि आगे करि बानर। चले जहाँ रघुपति करुनाकर॥ १॥
दूरिहि ते देखे द्वौ भ्राता। नयनानंद दान के दाता॥ २॥
बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठठुकि एकटक पल रोकी*॥ ३॥

अर्थ—आदरसहित उसे आगे करके वानर वहाँ चले जहाँ करुणाकी खानि श्रीरघुनाथजी हैं॥ १॥ नेत्रोंको आनन्दरूपी दान देनेवाले दोनों भाइयोंको दूरसे ही विभीषणजीने देखा॥ २॥ फिर छबिके धाम श्रीरामजीको देखकर पलक रोककर एकटक देखते खड़े रह गये। अर्थात् पैरोंका चलना और नेत्रोंका पलक मारना बंद हो गया॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'सादर तेहि आगे करि······'* इति। (क) पहले उनका अनादर किया था, इसीसे यहाँ 'सादर' पद दिया, अर्थात् अब आदरपूर्वक लिये आ रहे हैं। आगे करना यह आदर है। (ख) पहिले अनादर और अब आदरका दूसरा भाव यह है कि भगवत्-शरण होनेमें प्रथम देवता बाधा करते हैं। ये सब वानर देवता हैं—*'बनचर देह धरी छिति माहीं।'* (१। १८८), पहले इन्होंने विभीषणको शरण आनेमें रोक दिया, उन्हें श्रीरामजीके पास न आने दिया और यही राय दी कि इसे शरणमें न लीजिये। पर, उसी विभीषणपर श्रीरामजीकी प्रसन्नता देखकर अब सहायक हुए और सादर प्रभुके पास ले चले; यथा—*'धाई धारि फिर कै गोहार हितकारी होत आई मीचु मिटत जपत रामनाम के॥'* पुनः, (ग)—प्रभुने सुग्रीवसे

* ब्र० चं०—'सादर····' ११४३, 'चले····', १२१० वें भेद हैं। (२) पायकुलक 'बहुरि····' द्रुतपा, 'रहेउ' पायकुलक।

जो कहा था कि *'मम पन सरनागत भयहारी'* उसे सबने सुना था, इससे सादर लिवा ले चले जिसमें उनको यह भय या संदेह न हो कि ये हमको बाँधने या मारनेके लिये जाते हैं।

टिप्पणी—२ *'चले जहाँ रघुपति करुनाकर'* इति। विभीषणजीपर प्रभुकी बड़ी कृपा हुई है, अतएव यहाँ आदि, मध्य, अन्त तीनोंमें कृपासूचक विशेषण दिये हैं, यथा—*'हँसि कह कृपा निकेत'*—(१), *'जय कृपाल कहि कपि चले'*—(२), और *'चले जहाँ रघुपति करुनाकर'*—(३)। पुनः, *'करुनाकर'* विशेषण देकर यह भी जनाया कि इनपर कृपा की और आगे और भी करेंगे।

श्रीलमगोड़ाजी—क्या प्रगतियोंके इस चित्रपर स्वयं फिल्मकला भी निछावर नहीं है? यदि कवि सामने न होता तो सुन्दर आलोचना कौन करता?

टिप्पणी—३ *'दूरिहि ते देखे द्वौ भ्राता।……'* इति। इससे ज्ञात हुआ कि वानर सामनेसे हट गये हैं, रास्ता प्रभुके समीपतक साफ है, दोनों भाई सामने बैठे हुए हैं।

टिप्पणी—४ *'नयनानंद दान के दाता।'* भाव कि जितने नेत्रवाले हैं उन सबोंको, दोनों भाइयोंके दर्शनसे आनन्द प्राप्त होता है। *'दान'* का भाव यह कि कोई अपने सुकृतोंके बलसे दर्शन नहीं पा सकता, इतना सुकृत किसीका भी नहीं है [कारण कि कर्तापनके अभिमानपूर्वक सकामभावसे किये जानेवाले सुकृत कर्म हैं। वे स्वयं अनित्य हैं और अनित्य फल देनेवाले हैं। अतः जो सर्वथा स्वतः सिद्ध नित्य है क्रियासाध्य नहीं है उसकी प्राप्ति वे नहीं करा सकते। यथा—**'नास्त्यकृतः कृतेन।'** (मुण्डक० १। २। १२)] प्रभु अपनी कृपासे दर्शन देते हैं। नयनानन्द देना परमार्थ-दान है और लंकाका राज्य देना स्वार्थदान है।

प० प० प्र०—*'दाता'* शब्द देकर जनाया कि आनन्द तभी मिलेगा जब वे देंगे, अन्यथा उनका दर्शन होनेपर भी आनन्द न होगा। खर-दूषणादिने देखा तो उनको उनपर दया आ गयी—*'बध लायक नहिं पुरुष अनूपा'*; पर आनन्द नहीं हुआ। यदि दर्शनमात्रसे सभीको आनन्द होता तो *'जिन्ह की रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥'* यह बात असम्भव हो जाती। भावनाके अनुसार ही भगवान् दान करते हैं। सुग्रीव, वाली, तारा, अङ्गद इत्यादि किसीको भी प्रथम दर्शनमें इतना आनन्द न हुआ जितना विभीषणको हुआ।

बाबा जयरामदासजी रामायणी—शरण्यकी कृपामयी चितवन पहले शरणागतके नेत्रोंको ही अपना अनुकूल भाव जताकर जो परम संतुष्टि प्रदान करती है वही 'नयनानन्द दान' है।

मा० त० सु०—*'नयनानंद दान'* का भाव कि नेत्रोंके आनन्दकी अवधि यहींतक है, यथा—*'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा'*, *'लोचनगोचर सुकृतफल मनहु किये बिधि आनि॥……लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥'* इति भरद्वाज (२। १०६-१०७। ७)

पाँड़ेजी—विभीषणको संदेह था कि अङ्गीकार करेंगे या नहीं। इसीलिये नीतिके अनुसार दूरसे ही देखा तो उनको नयनानन्द-दानका दाता देखा।

टिप्पणी—५ *'बहुरि राम छबि धाम बिलोकी।……'* इति। (क) पहले दोनों भाइयोंको देखा, फिर श्रीरामजीकी छबि देखकर विदेहदशाको प्राप्त हो गये। सब भाई छबिधाम हैं; पर श्रीरामजी सबसे अधिक सुखसागर हैं, यथा—*'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥'* (१। १९८। ६) इसीसे जो प्रभुको देखता है वही विदेह हो जाता है, एकटक देखने लगता है, पलक नहीं मारता। यथा—

श्रीमनुशतरूपाजी— *'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी॥'* (१। १४८। ५)
श्रीसीताजी— *'थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥'* (१। २३२। ५)
श्रीजनकपुरवासी— *'देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे॥'* (१। २७४। ३)
श्रीपरशुरामजी— *'रामहिं चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥'* (१। २६९। ८)
श्रीमगवासी— *'एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद्र चकोरा॥'* (२। ११५। ५)
श्रीसनकादिकजी— *'एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरे सीस नवावहिं।'*
श्रीअत्रिजी— *'तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुख पंकज दिये।'* (३। ६)

इसी तरह दोनों भाइयोंके दर्शनसे सबको आनन्द हुआ—

श्रीविश्वामित्रजी— *'पुनि चरनन्हि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी॥'* (१। २०७। ५)

श्रीजनकजी और उनके मंत्री आदि— *'भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥'* *'मूरति मधुर मनोहर देखी। भये बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥'* (१। २१५। ७-८)

श्रीपरशुरामजी— *'रामु लषनु दसरथके ढोटा। दीन्हि असीस जानि भल जोटा।'*

देवगण— *'मरकत कनकबरन बर जोरी। देखि सुरन्ह भै प्रीति न थोरी॥'*
'पुनि रामहिं बिलोकि हिय हरषे।' (१। ३१५। ७)

अत्रिजी— *'प्रेमबारि दोउ जन अन्हवाये॥' 'देखि राम छबि नयन जुड़ाने।'* (३। ३)

पँड़िजी—यहाँ *'राम'* पद दिया। भाव कि ये रमानेवाली छबिके धाम हैं, इसीसे विभीषणजी इनमें रम गये। *'रहेउ ठटुकि एकटक पल रोकी'* पदसे बाह्यनेत्रानन्दद्वारा आन्तरिक सर्वेन्द्रियोंका आनन्द दिखाया, यथा—*'मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भये मगन मन सकहिं न रोकी', 'एकटक रहे निमेष न लावहिं'* (मा० त० सु०)।

भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामल गात प्रनत भय-मोचन*॥४॥

अर्थ—(श्रीरामजीकी) विशाल भुजाएँ (आजानुबाहु) हैं, लाल कमलके समान नेत्र हैं, साँवला शरीर है, (ये सब) शरणागतके भयको छुड़ानेवाले हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीविभीषणजीने लंकासे चलते समय 'रघुवीर' शरणमें जाना कहा है, यथा—*'मैं रघुबीरसरन अब जाउँ देहु जनि खोरि'।* अतः यहाँ वीर-रसयुक्त स्वरूपका दर्शन हुआ। अथवा, विभीषणजी शत्रु-(रावण-) से सभीत हैं, अतः अभयदायक वीररसयुक्त मूर्त्ति देखी। (ख) भुजबलसे शत्रुका नाश होगा, अतः प्रथम भुजाएँ देखीं। मिलान कीजिये—

(१) *'पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन। कृपासिंधु मति धीर अखिल बिस्व कारन करन॥'* (१। २०८) *'अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलद तन स्याम तमाला॥'*

(२) *'लछिमन चले क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ।'* (६। ५१) *'छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिम गिरि निभ तनु कछु एक लाला॥'*

यहाँ आयुध नहीं कहे गये। इसमें भाव यह है कि—(१) आयुध लिये मिलनेकी विधि नहीं है; इसीसे धनुष-बाण उतारकर रख दिये हैं। अथवा (२) इस समय धनुष-बाण लक्ष्मणजीके पास हों, यथा—*'लछिमन बान सरासन आनू। सोखौं बारिधि बिसिख कृसानू'।* अथवा, (३) विभीषणजी भवभयत्रस्त शरणमें आये हैं, यथा—*'श्रवन सुजस सुनि आएउँ प्रभु भंजन भवभीर'।* और प्रभुकी भुजाएँ भवभयनाशक हैं, यथा—*सुमिरत श्रीरघुबीरकी बाहैं। होत सुगम भव उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं॥ ....सरनागत आरत प्रनतनि को दै दै अभयपद ओर निबाहैं। करि आई करिहैं करती हैं तुलसिदास दासनि पर छाहैं॥'* (गी० ७। १३)

टिप्पणी—२ *'कंजारुन लोचन'* से कृपायुक्त नेत्रोंका दर्शन जनाया। विशेष भाव मं० सोरठा ३, बा० १। १८ (१०) और सुं० ३५ (२) में देखिये।

टिप्पणी—३ *'प्रनत भय-मोचन'* यह सबका विशेषण है। प्रभुके सब अंग प्रणतके भय छुड़ानेवाले हैं। यथा—*'पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि राम कृपाल बाहु बिसाल भव भय मोचनं।'* (३। ३२) यहाँ *'भय'* का अर्थ खुल गया कि भवभयको दूर करते हैं।

मा० त० सु०—'अरुण' पद शत्रुनाशवाचक और 'श्यामलगात' पद जीवनरक्षक है। 'कंजारुणलोचन' पद भक्तोंके पोषण अर्थमें है।

पाँड़ेजी—मनोरथकी पूर्तिके विचारसे भुजाओंको प्रथम देखा। फिर रावणपर कोप करनेवाले लाल-

* ब्र० चं०—'भुज.......' ११३९, 'श्यामल.......' १२११ वें भेद हैं।

लाल नेत्र देखे और फिर श्याम शरीर देखा जो शरणागतके भयको छुड़ानेवाला है।

नोट—'*भुज प्रलंब*......*भय-मोचन*' में महात्मा अक्रूरके इन विचारोंका भाव है कि 'जब मैं चरणोंमें प्रणाम करूँगा तो वे मुझे इन विशाल भुजाओंसे उठाकर हृदयमें लगायेंगे जो कालरूपी सर्पसे भयभीत होकर शरणमें आनेवालोंको अभय करनेवाले हैं। इस आलिंगनसे मैं पवित्र हो जाऊँगा, मेरी आत्मा औरोंके लिये तीर्थरूप हो जायगी और मेरे कर्मबन्धन छूट जायँगे'। कंजारुणलोचनमें भाव है कि 'वे मुझे करुणामयी दृष्टिसे देखेंगे, तो मैं तुरत पापोंसे मुक्त होकर परमानन्दको प्राप्त होऊँगा' यथा—'**अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः शिरस्यधास्यन्निजहस्तपङ्कजम्। दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम्।** '**सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ माम्। आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः।** **अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा। सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम्।**' (भा० १० । ३८ । १६, २०, १९)

सिंघ कंध आयत उर सोहा। आनन अमित मदन मन मोहा॥ ५॥
नयन नीर पुलकित अति गाता। मन धरि धीर कही मृदु बाता*॥ ६॥

अर्थ—सिंहके कंधेके समान कंधे हैं, विशाल वक्षःस्थल सुशोभित है। मुख असंख्य कामदेवोंके मनको मोहित कर रहा है॥ ५॥ विभीषणजीके नेत्र सजल और शरीर अत्यन्त पुलकित है। मनमें धीरज धरकर उन्होंने कोमल वचन कहे॥ ६॥

प० प० प्र०—चौ० ४, ५ की शब्दरचनापर दृष्टि डालनेसे यह प्रतीत होता है कि प्रथम चरणोंमें वीररस सूचित है और दूसरे चरणोंमें शृङ्गार और वीर है। 'भुजप्रलंब', 'भयमोचन', 'सिंहकंध' और 'आयत उर' वीररससूचक हैं। *'स्यामल गात', 'आनन अमित मदन मन मोहा',* में शृङ्गाररस है। प्रथम वीररसका वर्णन करके सूचित करते हैं कि इस समय भगवान्‌के शरीरमें वीररसका संचार प्रधान है। प्रणतका भय निवारण करनेके लिये मानो *'फरकि उठी दोउ भुजा बिसाला'*। भगवान् भक्तसे मिलने और उसको अभय करनेको आतुर हो रहे हैं।

टिप्पणी—१ *'सिंघ कंध'* कहकर राक्षसोंको गजगण जनाया, जिनका पुरुषसिंह श्रीरामजी नाश करेंगे। *'अमित मदन मन मोहा',* यथा—*'जो बिलोकि बहु काम लजाहीं'*। [*'सिंघ कंध आयत*......' से भवभय-मोचनमें अलौकिक और शत्रुभयनाशनमें समर्थतर जनाया *'आनन अमित मदन*......' से सर्वचित्ताकर्षक अति सौन्दर्ययुक्त सूचित किया यथा—*'हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई'* (मा० त० सु०)। *'सिंघ कंध'* अर्थात् ऊँचे और सुढार]।

टिप्पणी—२ *'नयन नीर पुलकित*'......इति। यह विभीषणजीकी दशा कही। श्रीरामजीको देखकर धीरज जाता रहता है; इसीसे *'धरि धीर'* कहा। और कुछ उदाहरण ये हैं—

(१) *'मूरति मधुर मनोहर देखी। भए बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥'*
प्रेम मगन मन जानि नृप करि बिबेक धरि धीर।' (१। २१५)

(२) *'केहरि कटि पटपीतधर सुषमा-सील-निधान।*
देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥' (१। २३३)
धरि धीरज एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी॥

(३) *'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह सिथिल सब रानी॥ पुनि धीरज*...... ॥' (१। ३३७)

(४) *'रामु लषनु उर कर बर चीठी। रहि गये*...... ॥ *पुनि धरि धीर*......।' (१। २९०। ५-६)

(५) *'राम बदन बिलोकि मुनि ठाढ़ा। मानहु चित्र*...... ॥ *तब मुनि हृदय धीर धरि*......' (३। १०)

(६) *'पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत*...... ॥ *पुनि धीरज धरि।*......' (४। २। ६-७)

टिप्पणी—३ विभीषणजी तन, मन, वचनसे प्रेममें मग्न हैं। यथा—*'नयन नीर पुलकित अति गाता',*

* प्र० चं०—चौ० (५), 'नयन......' पायकुलक, 'मन......' तामरस।

'मन धरि धीर' और *'कही मृदु बाता।'*

प० प० प्र०—*'मन धरि धीर'* से जनाया कि वाणी रुक गयी है जिसकी प्रतीति आगे *'नाथ'* शब्दके उच्चारणमें मिलती है। 'नाथ!' कहकर एक दीर्घश्वास छोड़ते हैं तब आगे बोल सकते हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—तुलसीदासजीकी चित्रण-कलामें भगवान्‌के नख-शिख वर्णनोंका बड़ा ही विचित्र स्थान है। कारण कि वे इतने सुन्दर और प्रसंगानुकूल बन पड़े हैं कि यदि हम उन्हें एकत्रित कर लें तो चित्रोंमें ही सारी रामायण आ जायगी।

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥ ७॥
सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा*॥ ८॥

अर्थ—हे नाथ! मैं दशाननका भाई हूँ। हे देवताओंके रक्षक! मेरा जन्म निशाचर कुलमें हुआ है॥ ७॥ मेरा तामसी शरीर है, मुझे पाप स्वाभाविक ही प्रिय है जैसे उल्लूका सहज ही अन्धकारपर प्रेम रहता है॥ ८॥

नोट—१ *'नाथ दसानन कर............सरन सुखद रघुबीर'* में महात्मा अक्रूरके **'न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक्। योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा॥'** (भा० १०। ३८। १८) के विचारोंका भाव आ जाता है कि यद्यपि मैं दशाननका भाई हूँ और उसकी आज्ञासे *('सठ मिलु जाइ........')* यहाँ आया हूँ, तो भी वे सर्वान्तर्यामी हैं, मुझे शत्रुका पक्षपाती न जानेंगे, प्रत्युत अपना भक्त ही जानेंगे।

इन सब भावोंकी पूर्ति भी आगे श्रीराममिलनमें हुई। यह *'देखा'*, *'भुज बिसाल गहि हृदय लगावा'* और *'बोले बचन भगत भयहारी'* में चरितार्थ है।

टिप्पणी—१ *'नाथ दसानन कर............'* इति। (क) अपनी अधमता दिखानेके लिये अपनेको रावणका भाई कहकर अपना परिचय दे रहे हैं। पिताका नाम लेकर प्रणाम करनेकी रीति है। ये अपने पिताका नाम नहीं लेते क्योंकि वे ऋषि हैं, उससे कुलीनता पायी जाती। पिताकी जगह बड़े भाईका नाम लिया क्योंकि बड़ा भाई पिताके समान है। (ख) चार बातोंसे पुरुषकी परीक्षा होती है—कुल, संग, स्वभाव और शरीरसे। विभीषणजी अपने मुँहसे अपनी अधमता चारों प्रकारसे कह रहे हैं। क्रमसे सुनिये—*'निसिचर बंस जनम'* यह कुलसे अधम, *'दसानन कर भ्राता'* यह संग अधमका, *'सहज पाप प्रिय'* यह स्वभावसे अधम और *'तामस देहा'* यह शरीरसे अधम दिखाया। मिलान कीजिये—*'जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक।..........'* (बा० २३७-२३८। १) और बा० ३८ (१३) में विस्तृत व्याख्या और मिलान देखिये। (बा० २६९। २) *'पितु समेत कहि निज निज नामा'* देखिये। *'सुरत्राता'* सम्बोधनका भाव कि आप तो देवताओंके रक्षक हैं और मैं सुरत्रासक हूँ, उनके विरोधियोंके वंशमें हूँ। (ग) *'नाथ'* का भाव कि ऐसा अधम होते हुए भी मैं आपको अपना *'नाथ'* समझकर आया हूँ, मुझे सनाथ कीजिये।

नोट—२ यहाँ मयङ्ककार आदिने शंका की है कि इन्होंने निशिचर-वंश क्यों कहा, इनके पिता तो ऋषि हैं? इसके दो कारण टिप्पणीमें आ चुके कि अपनी अधमता दिखलानेके लिये ऐसा कहा। दूसरे माता निशाचरी है, माताके ही यहाँ पले भी और वंशकी सत्यता संस्कारपर ही होती है, अतः निशिचर वंश यथार्थ है। अपनी अधमता दिखाना यह दीनता है और षट्शरणागतिमेंसे यह कार्पण्यशरणागति है। मानस-मयङ्कके टीकाकारोंने *'निसिचर'* का अर्थ सूर्य करके 'निसिचरवंशजन्म' से रामजी वा सुग्रीवका अर्थ किया है और सुरत्राताको भी फोड़कर अर्थ किया है पर ऐसा करनेसे शरणागति प्रकरणका ही सत्यानाश हो जाता है और पूर्व और आगे दिये हुए विशेषण व्यर्थ हो जाते हैं। दूसरे इन अर्थोंमें कविने कहीं इन शब्दोंका प्रयोग नहीं किया है। विशेष दोहा ४५ में देखिये।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं—**'संततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ। वंशोऽन्वायः सन्तानो वर्णाः स्युर्ब्राह्मणादयः।'** (अमरकोश) सन्तति, गोत्र, जनन, कुल, अभिजन, अन्वय, वंश, अन्वाय और सन्तान—ये

* प्र० चं०—'निसिचर.......' नयमालिनी, 'सहज.......' 'द्रुतपा', शेष पायकुलक।

सात नाम वंशके हैं। अतः कुल और वंश पर्याय शब्द हैं। सो मातृकुल, पितृकुल-भेदसे दो कुल या वंश होते हैं। रावणादिका पितृकुल ऋषिकुल था और मातृकुल दैत्य-कुल था। उसीसे ये लोग राक्षस कहलाये। विभीषणजीने अपना परिचय मातृकुलसे दिया, अपने स्वजनोंकी करनी विचार करके ऋषिकुलसे परिचय देनेमें उन्हें लज्जा लगी। कार्पण्य भक्तिके लक्षणोंमें है, अतः निशिचरवंश कहना सर्वथा प्राप्त था। निशिचरवंशसे परिचय देनेका कारण भी विभीषणजीने कहा *'सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा॥'*; अतः सीधा अर्थ छोड़कर 'निशिचर' का अर्थ सूर्यनारायण करना विडम्बना ही है।

श्री नंगे परमहंसजी—विभीषणजीने अपना परिचय देते हुए पहले अपनेको दशाननका भाई कहा तब निशिचरवंशमें अपना जन्म कहा, यद्यपि उन्हें पहले जन्म कहना चाहिये था क्योंकि जन्म होनेपर भाईका नाता होता है। प्रथम नाता कहा जिसमें किञ्चित् भी संदेह मनमें न आवे कि शत्रुका भाईपना छिपाता है। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि 'दसानन भाई' कहनेसे निशिचरवंश सूचित हो ही गया तब इसकी सूचना देनेका क्या प्रयोजन? उत्तर यह है कि दशाननका भाई कुबेर भी है (पर वह देवता है, धन्य है, शंकरजीका मित्र है, यक्षराज है और ऋषिकुलमें है), इसलिये निशाचर वंशकी सूचना दी। तीसरी शंका यह है कि ये भी ऋषिकुलके हैं तब निशिचरवंश क्यों कहा? समाधान यह है कि कुल और वंशमें भेद है। कुल सनातन खानदानको कहते हैं और वंश जन्मके खानदानको कहते हैं। जन्मस्थल माताको कहते हैं। उनकी माता निशाचरी थी, इसलिये अपना जन्म निशिचरवंशमें कहा।

वीरकवि—*'निसिचर बंस'* कहनेमें अपनी लघुता सूचित करनेकी ध्वनि है। व्यंगार्थ और वाच्यार्थ बराबर होनेसे 'तुल्य प्रधान गुणीभूत व्यंग' है।

शिला—यहाँ विभीषणजीके कथनमें अति निश्चल दीन देश दिखाते हैं। दशाननका भाई हूँ। यदि आप कहें कि तुम तो पृथक् हो, उसपर कहते हैं कि मैं निशाचर वंशमें हूँ। जो आप कहें कि वंशसे हमें क्या करना, उसपर कहते हैं कि आप सुरत्राता हैं, अतः वंशभरसे वैर हुआ। यथा—*'जो मैं राम तो कुलसहित कहिहि दसानन आइ।'*; अतएव मैं भी वैरी हूँ, पर आपकी शरण आया हूँ।

टिप्पणी—२ (क) *'सहज पाप प्रिय'* में ध्वनि यह है कि 'धर्म प्रिय नहीं है', यथा—*'मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ। सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ॥'* (४७। ७) पुनः, भाव कि पापीके संगमें पाप प्रिय लगता है। पर मैं रावणका भाई हूँ, उसके संगसे पाप प्रिय लगता हो, यह बात नहीं है। मेरा स्वभाव ही ऐसा है, किसीके संगके कारण यह दोष मुझमें नहीं है किन्तु यह मेरी सहज प्रकृति है। (ख) जो विनयमें गोस्वामीजीने कहा है कि *'रिपुको अनुज विभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी।'* (पद १६६), वही बात यहाँ विभीषणजी अपने मुखसे कह रहे हैं। विनयके *'रिपुको अनुज'*, *'निसिचर'* और *'कौन भजन अधिकारी'* क्रमसे यहाँ *'दसानन कर भ्राता'*, *'निसिचर बंस जनम'* और *'सहज पाप प्रिय'* हैं। पापसे भजन नहीं होता, यथा—*'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥'* अतएव *'कौन भजन अधिकारी'* और *'सहज पाप प्रिय'* दोनों एक ही बातें हैं। (ग) *'जथा उलूकहिं तम पर नेहा'* इति। उल्लूको अन्धकार सहज ही प्रिय है, वह अशुभ पक्षी है वैसे ही मुझे पाप सहज प्रिय है और देह तामसी है अतएव अशुभ हैं। जैसे तम दुःखद वैसे ही पाप दुःखद। [सूर्यके रहते हुए भी उल्लूको अंधकार प्रिय, वैसे ही धर्मका ज्ञान होते हुए भी मुझे अधर्म प्रिय है। (मा० त० सु०) पुनः, उलूकसे संत-विरोधी जनाया, यथा—*'होहिं उलूक संत निंदारत।'*]

दो०—श्रवन सुजस सुनि आएउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरतिहरन सरनसुखद रघुबीर॥ ४५॥

अर्थ—मैं कानोंसे आपका सुन्दर यश सुनकर आया हूँ कि प्रभु भवभयके भंजन करनेवाले और समर्थ हैं। हे आर्तके दुःखके हरनेवाले! हे शरणागतको सुख देनेवाले! हे रघुवीर! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये॥ ४५॥

* ब्र० चं०—दोहरा मिश्रित है।

नोट—१ गीतावलीमें भी सुयश सुनकर आना और क्या सुयश सुना तथा किस मनोरथसे आये यह सब यों कहा है—*'सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयो सरन। उपल केवट गीध सबरी संसृत समन। सोकश्रमसीव सुग्रीव आरति हरन॥ राजा राजीवलोचन बिमोचन बिपति। श्याम नव तामरस दाम बारिद बरन॥ लसत जटाजूट सिर चारु मुनिचीर कटि। धीर रघुबीर तूनीर सर धनु धरन॥ जातुधानेसु भ्राता बिभीषन नाम। बंधु अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन॥ पतितपावन प्रनतपाल करुनासिंधु। राखिए मोहि सौमित्रि सेवित चरन।'* (५। ४३) दोहेका *'भंजन भव भीर'* इसमें *'उपल केवट गीध संसृत समन'* हैः *'त्राहि आरतिहरन·······'* का भाव *'सोक श्रमसीव सुग्रीव आरतिहरन।·······'* में है। *'सरनसुखद रघुबीर'* ही को *'राम राजीव लोचन बिमोचन बिपति। ·······रघुबीर·······प्रनतपाल करुनासिंधु'* इन शब्दोंसे कहा है।

'त्राहि त्राहि' का भाव *'बंधु अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन।'* *'राखिए मोहि सौमित्रि सेवित चरन'* में है। (गी० ५। ४४) में भी कहा है—*'दीनहित बिरद पुराननि गायो। आरतबंधु कृपाल मृदुल चित जानि सरन हौं आयो॥ तुम्हरे रिपुको अनुज विभीषन बंस निसाचर जायो। सुनि गुन सील सुभाउ नाथ को मैं चरननि चित लायो।'*

टिप्पणी—१ (क) *'प्रभु भंजन भवभीर·········'* आदि विशेषणोंके भाव कि आप समर्थ हैं, मैं सब प्रकार असमर्थ हूँ। आप भवभीरभंजन हैं, मैं सभीत हूँ। आप आर्तिहरण हैं, मैं आर्त्त हूँ। आप शरणसुखद हैं, मैं शरण हूँ। आप रघुवीर हैं, मैं आपके शत्रुका भाई हूँ। आपके दरबारमें दीनका आदर है, मैं सब प्रकार दीन हूँ। अथवा, *'नाथ दसानन कर मैं भ्राता।·······तम पर नेहा'* को लेकर इस दोहेका भाव यह है कि—(ख) दशानन आपका विरोधी है, मैं उसका भाई हूँ, अतः शरणके योग्य नहीं हूँ। आप सुरत्राता हैं, मैं निशाचर सुरविरोधी हूँ; तात्पर्य कि जो आपके स्नेही हैं मैं उन्हींका विरोधी हूँ। और जो आपके विरोधी हैं उनका मैं स्नेही हूँ। आपको धर्म प्रिय है, मुझको पाप प्रिय। सब प्रकारसे मैं आपकी शरणके अयोग्य हूँ, किसी प्रकार भी योग्य नहीं। रही एक बात वह यह है कि मैंने आपका यह सुयश सुना है कि आप शरणसुखद हैं, कैसा भी कोई पापी हो आपकी शरण जानेपर आप उसे अवश्य शरण देते हैं, यथा—*'सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा॥'* (३९। ७) पुनः, भाव कि आप भवभीरके भंजनमें समर्थ हैं अतः मेरा दुःख दूर कीजिये और शरणसुखद हैं, अतएव मुझको शरणमें रखकर अपने सुयशकी रक्षा कीजिये और मुझे शरणका सुख दीजिये। भारी शत्रुसे वीर बचाते हैं, भव भारी शत्रु है और आप रघुवीर हैं अतएव मुझे शत्रुसे बचाइये।

नोट—२ लगभग यह सब भाव श्रीधर मिश्रजीने दिये हैं—'मैं निशिचर हूँ और आपका प्रण है *'निसिचरहीन करउँ महि'*, दूसरे शत्रुका भाई हूँ, तीसरे सुरारी हूँ और आप सुरत्राता हैं, चौथे मैं तमोगुणी और आप सत्त्वोगुणी हैं, अतः आपका विरोधी हुआ—इस तरह सब प्रकारसे वधयोग्य हूँ पर आपका आर्त्ति हरण आदि सुयश सुनकर शरण आया हूँ। अब चाहे वध कीजिये, सुग्रीवके वचनके अनुकूल मुझे बाँध रखिये, चाहे *'मम पन सरनागत भयहारी'* इस विरदको विचारकर अभय कीजिये। दोनों वचनोंको विचारकर ऐसा कहा।'

नोट—३ भगवान्ने जो सुग्रीवसे कहा था कि *'जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥'* उस वचनको यहाँ चरितार्थ किया। वे सभीतको शरणमें रखते हैं और ये (विभीषणजी) सभीत हैं, यथा—*'सरन आएउँ प्रभु भवभय बिकल डरेउ'*।

नोट—४ (क) *'श्रवन सुजस सुनि आएउँ'* इति। किससे सुना है? हनुमान्‌जीसे। यथा—*'तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम·······॥ ६॥ अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।' कीन्ही कृपा·······।* (७) पुनः यथा गीतावली—*'बिषम बिषाद बारिनिधि बूड़त थाह कपीस कथा लही। गये दुख दोष देखि पद पंकज अब न साथ एकौ रही॥'* (५। ३१) अथवा, नारदादिसे सुना। नारदसे सुनना कुम्भकर्णके *'कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जाके सेवक॥ नारद मुनि मोहि ज्ञान जो कहा। कहतेउँ तोहि समय निरबहा।'* (६। ६२। ५-६): इन वाक्योंसे ध्वनित होता है। विभीषणजीसे भी कहा होगा, क्योंकि ये तो हरिभक्त ही थे। चाहे दोनोंसे एक साथ कहा

चाहे अलग-अलग। श्रीशङ्करजीसे भी सुना ही है; यथा—*'राम की सरन जाहि सुदिन न हेरै। जाको नाम कुंभज कलेस सिंधु सोखिबे को। मेरो कह्यो मानि तात बाँधै जिनि बैरै॥'* (गी० ५। २७); पर श्रीरघुनाथजीके पास जानेका संकल्प करनेके पश्चात् शंकरजीने यह कहा है। यथा—*'मातु पग सीस नाइ तुलसी असीस पाइ चले……।'* (५। २६), *'कृपानिधान को मिलौं पै मिलि कै कुबेरै।……तहँई मिले महेस……।'* (५। २७) (गी० ५। ४४) में पुराणोंद्वारा दीनबंधुता, कृपालुता आदि गुणों और शीलस्वभावका सुनना विभीषणजीने स्वयं कहा है। स्मरण रहे कि यह सुनना प्रभुके समीप आनेके पूर्वका ही है। विभीषणजीके आनेपर जो सुग्रीवसे प्रभुने कहा है वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। (ख) *'मैं रघुबीर सरन अब जाउँ……'* उपक्रम है और *'श्रवन सुजस सुनि आएउँ……सरन सुखद रघुबीर'* उपसंहार है।

वि० त्रि०—छः विधि शरणागतिकी हैं। '**आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥**' (क) *'राम सत्यसंकल्प प्रभु'* कहकर अपनी अनुकूलता दिखलायी। (२) *'सभा काल बस तोर'* कहकर प्रतिकूलका वर्जन द्योतित किया। (३। ४) *'मैं रघुबीर सरन अब जाउँ'* कहकर '**रक्षिष्यतीति विश्वासः**' तथा '**गोप्तृत्ववरणम्**' कहा। (५) दण्डवत् करनेसे आत्म-निवेदन दिखलाया। (६) *'निसिचर-बंस जन्म'* कहकर कार्पण्य सूचित किया। इस प्रकारसे शरणागतिकी सब विधि विभीषणजीमें दिखलायी। परंतु शरणागति वस्तु क्या है, इसका भी निरूपण होना चाहिये। अहिर्बुध्न्यसंहितामें कहा गया है कि '**अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः। त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः। शरणागतिर्नरतिः प्रोक्ता**' इत्यादि (१) मैं अपराधोंका आलय हूँ, (२) अकिञ्चन हूँ, (३) अगतिक हूँ, (४) 'आप ही मेरे लिये उपायरूप हो जायँ'—ऐसी प्रार्थनाकी बुद्धि ही शरणागति है। प्रभुके सामने विभीषणजी शरणागतिका स्वरूप खड़ा किये देते हैं। *'सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा॥'* कहकर अपना अपराधोंका आलय होना स्वीकार किया। *'आरतिहरन'* सम्बोधनसे अपना अकिञ्चन होना आर्त होना सूचित किया। *'त्राहि त्राहि'* कहकर अपना अगतिक होना कहा। अतः विभीषणजीकी शरणागति स्वरूपतः भी ठीक उतरी।

प० प० प्र०—*'श्रवन सुजस सुनि'* से ध्वनित होता है कि उन्होंने सुयशका श्रवण किया है। भगवान्‌का सुयश सुनानेवाले संत ही होते हैं। यथा—*'बिनु सतसंग न हरि कथा'।* अतः इससे यह भी सिद्ध हुआ कि इन्होंने संतसंग किया है। *'आएउँ'* से सिद्ध होता है कि इनकी सन्तवाक्यमें दृढ़ श्रद्धा है। संतके दर्शनसे पाप मिटते हैं, उनका संग मोक्षका मार्ग है, उनसे हरिसुयश सुननेपर सब मनोरथ सिद्ध होते हैं, यथा—*'संत दरस जिमि पातक टरई', 'संतसंग अपबर्ग कर', 'भवभेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि। तिन्हकर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिपुरारि॥'* (त्रिसितरि)। (४। ३०) विभीषणजीने त्रिपुरारिके अवतार हनुमान्‌जीसे ही श्रीरघुनाथ-यश सुना। अतः इनके सब मनोरथ पूरे होंगे। [नोट—*'सरन सुखद रघुबीर'* का भाव कि आप ही समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाले हैं। यथा—'**भवन्तं सर्वभूतानां शरणं शरणंगतः॥**' (वाल्मी० ६। १९। ५)]

श्रीलमगोड़ाजी—सुन्दरकाण्ड वास्तवमें अति सुन्दर कथाओंका भण्डार है। कारण कि सेवाधर्मकी पराकाष्ठा हनुमान्‌जीमें और शरणागतधर्मका उत्तम उदाहरण विभीषणजीमें मौजूद है। श्रीमद्भागवतमें भी भगवान्‌की विरदावली कहते हुए उनको शरणागतरक्षक और सेवकोंकी समस्त आर्ति और विपत्तिका नाशक कहा है (एकादश अध्याय ५)। मुझे बार-बार यह बात याद आती है, इसीसे लिखे देता हूँ कि कृष्णपरक ग्रन्थ होते हुए भी इस स्थानपर भागवतमें भी श्रीरामावतारपर ही (विशेषकर कलियुगमें) विशेष जोर दिया गया है, कारण कि इसी अवतारमें भगवान्‌ने धर्म (सत्य) और प्रेम (शील) के द्वन्द्वोंकी पराकाष्ठा दिखायी है और दोनोंकी मर्यादाओंको हर जगह निबाहा है, यह नहीं कि एकको छोड़ भागे हों, मानो *'उभय भाँति'* का निर्वाह ही इस मर्यादापुरुषोत्तम अवतारका मुख्य उद्देश्य है। मुझे तो यह प्रतीत होता है कि भगवान्‌का उद्देश्य इस अवतारमें निर्द्वन्द्वका अर्थ यह स्थापित करनेका था कि किसी एक द्वन्द्वसे बँधे नहीं किन्तु दोनोंका एकीकरण करे, द्वन्द्वसे नकेल तुड़ाकर न भाग जाय।

अस कहि करत दंडवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा॥ १॥
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥ २॥
अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी। बोले बचन भगत भयहारी॥ ३॥

अर्थ—ऐसा कहकर दण्डवत् करते देखा (त्योंही) तुरन्त प्रभु बहुत हर्षसहित उठे॥ १॥ दीन वचन सुनकर (वे) प्रभुको बहुत अच्छे लगे। उनको विशाल भुजाओंसे पकड़कर हृदयमें लगाया॥ २॥ छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजीसहित उनसे मिलकर उनको पास बिठाकर भक्तके भयको हरण करनेवाले वचन बोले॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'अस कहि करत दण्डवत''''''''* इति। दण्डवतसे अष्टाङ्ग प्रणाम सूचित किया। [**'पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा तथा। मनसा वचसा दृष्ट्वा प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः॥'** प्र० संस्करणमें यह श्लोक हमने दिया था, पर इसका प्रमाण न ज्ञात होनेसे इस संस्करणमें प्रामाणिक ग्रन्थोंके श्लोक दे रहे हैं। (आह्निक सू० पृष्ठ १४४) पूजा प्रसंगमें श्लोक इस प्रकार है—**'उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा। पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यां प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते॥'** अर्थात्, उर, शिर, दृष्टि (नेत्र), मन, वचन, पैर, भुजा और घुटना इन आठ अङ्गोंसे युक्त प्रणामको साष्टाङ्ग प्रणाम कहते हैं। शाण्डिल्य स्मृतिमें बताया है कि **'निधाय दण्डवद्देहं प्रसार्य चरणौ करौ। बद्ध्वा मुकुलवत्पाणी प्रणामो दण्डसंज्ञितः॥ पादौ शिरस्तथा हस्तौ निकुञ्च सुकुलाकृति। मनोबुद्ध्यभिमानेन प्रणामोऽष्टाङ्गसंज्ञितः॥'** अर्थात् देहको दण्डाकार पृथ्वीपर डालकर चरणोंको जोड़े हुए लंबी फैलाकर, हाथोंको फैलाकर, अञ्जलि बाँधकर इस तरह लंबा पड़कर जो प्रणाम किया जाता है उसे दण्ड प्रणाम कहते हैं। दोनों चरण, सिर, दोनों हाथ, मन-बुद्धि और अहंकारयुक्त प्रणामकी अष्टाङ्ग प्रणाम संज्ञा है। भगवान्‌के सामने साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करनेका विधान हैं कि अपनी दीनता कहता हुआ प्रणाम करे। प्रणामके समयका एक प्रसिद्ध श्लोक यह है—**'अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे। अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात् कुरु॥'**; अतः विभीषणजीने भी दण्डवत् प्रणाम करते समय वही सब *'नाथ दसानन''''''''त्राहि-त्राहि आरतिहरन''''''''* कहकर दण्डवत् की। यह बतानेके लिये *'अस कहि''''''''* शब्द दिये। (ख) दीन वचन कहे और साष्टाङ्ग दण्डवत् की। आगे दोनोंको क्रमसे चरितार्थ करते हैं—*'दीन बचन सुनि'* और *'भुज बिसाल''''''''* तात्पर्य कि स्वामीको अपना दुःख सुनानेसे दीनताका नाश होता है। यथा—*'तुलसी राम कृपालु सों कहि सुनाउ गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष॥'* (दो ९६) *'तुरत उठे'* क्योंकि यदि बहुत देर पड़े रहने दें तो उनका अनादर होता है। (ग) *'हरष बिसेषा'* इति। विभीषणजीने अपनेको पतित कहा यह सुनकर रामजीको विशेष हर्ष हुआ क्योंकि प्रभुका *'पतित पावन'* बाना है, यथा—*'जासु पतित पावन बड़ बाना। गावहिं कबि श्रुति संत पुराना॥'* (७। १३०। ७) पुनः, श्रीरामजीसे मिलने जब विभीषण चले तब उन्हें हर्ष हुआ था—*'चलेउ हरषि रघुनायक पासा'।* और जब विभीषणसे मिलनेको श्रीरामजी उठे तब श्रीरामजीको विशेष हर्ष हुआ। वहाँ हर्ष और यहाँ विशेष हर्ष दिखाकर सूचित किया कि श्रीरामजीसे मिलनेमें जितना हर्ष भक्तको होता है उससे कहीं अधिक हर्ष श्रीरामजीको भक्तसे मिलनेमें होता है।

टिप्पणी—२ *'दीन बचन सुनि''''''''* इति। (क) दीन वचन सुनकर मनमें अच्छे लगे, क्योंकि प्रभु दीनबन्धु हैं। वा, उनका दीन-दयाल विरद है, यथा—*'दीन दयाल बिरिदु संभारी'।* [पुनः, *'दीन बचन सुनि'* का भाव यह कि यद्यपि प्रभु अन्तःप्रेमको जानते हैं तथापि जबतक भक्त दीन वचनोंद्वारा प्रार्थना नहीं करता तबतक वह प्रभुके मनको विशेष नहीं भाता। यथा—*'सुनि सेवक दुख दीन दयाला। फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला॥'* (४। ६। १४), *'तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहि जद्यपि अंतरजामी'* (वि०)] *'प्रभु'* का भाव कि शत्रुका भय और भवका भय दूर करनेमें समर्थ हैं, इसीसे *'मन भावा'* [(ख)*'भुज बिसाल गहि'* का भाव कि विभीषणजी दूर पड़े हैं, उनके उठानेके लिये बड़ी-बड़ी भुजाएँ बढ़ायीं। विभीषणजी दूरसे दर्शन करते ही ठिठक रहे, वहींसे उन्होंने दण्डवत् की और वहींसे श्रीरामजीने उन्हें उठा लिया।]

शंका—जब भरतजी चरणोंमें गिरे, उस समय *'परे भूमि नहिं उठत उठाये'* और हनुमान्‌जीके यहाँ *'बार-बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥'* (३३। १) अर्थात् ये उठानेसे भी न उठते थे और विभीषणजी ग्रहण करते ही उठ गये, तो क्या इनका प्रेम उनसे न्यून था?

समाधान—भरतजी चरणपर गिरते ही अति ग्लानिसे चिन्तित हो गये,—ग्लानिवश न उठते थे। हनुमान्‌जीसे जब प्रभुने कहा कि मैं तुमसे उऋण नहीं और *'सनमुख होइ न सकत मन मोरा'* तब वे घबड़ाये कि प्रभु मुझे त्यागते हैं, अतएव आर्त होकर चरणोंपर गिर पड़े और त्राहि-त्राहि करने लगे, उठानेसे न उठे। इसमें हेतु यह है कि मैं तो दास हूँ, कैंकर्य मेरा मुख्य धर्म है, तब आप ऐसा क्यों कहते हैं? और यहाँ विभीषणजी चाहते थे कि प्रभु मुझे स्वीकार करें; अतएव केवल भुजमात्रके अवलंबनसे उठ गये। अथवा, विशाल शब्दसे बलपूर्वक उठाना सूचित किया, क्योंकि विभीषणजी तो प्रेममें मग्न थे, उन्हें उठनेकी सुध ही न थी। श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रसङ्गमें भी *'भुज बिसाल गहि लिये उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई॥'* कहा है। (मा० त० सु०)]

रा० शं० श०—विभीषणजीकी दृष्टि पहले भुजाओंपर ही पड़ी थी, इसलिये पहले भुजाओंने उनका हित किया। फिर चौड़ी छातीपर, इसीलिये बादको छातीने अपनाया।

पाँड़ेजी—*'भुज बिसाल'* अर्थात् ये ऐसी भुजाएँ है कि जिसको एक बार पकड़ा फिर कभी न छोड़ा।

पं० रा० कु०—श्रीरामजीका चलना नहीं कहते और विभीषणजी दूर पड़े हैं तब दूरसे उठाना और मिलना कैसे बने? इससे ज्ञात हुआ कि भुजा बढ़ाकर उठाया। यथा—*'उठे उमँगि आनंद-प्रेम-परिपूरन बिरद बिचारि कै। भयो बिदेह बिभीषन उत इत प्रभु अपन पौ बिसारिकै॥ भली-भाँति भावते भरत ज्यों भेंट्यो भुजा पसारि कै॥'* (गी० ५। ३६) पुनः, यथा—*'रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी। सरन गये आगे होइ लीन्ह्यो भेंटेउ भुजा पसारी॥'* इति। (विनय १६६) अति प्रियको लोग हृदयसे लगाते हैं, विभीषण श्रीरामजीको अत्यन्त प्रिय हैं, अतएव उन्हें हृदयसे लगाया यथा—*'सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। ताते तुम्ह अतिशय प्रिय मोरे॥'*

मा० त० सु०—*'तुरत उठे'* पदसे अनुमान होता है कि प्रभु चले भी। इसी प्रकार भरतजीके प्रकरणमें श्रीभरतजीका दूरसे प्रणाम करना लिखा और प्रभुका उठकर उठाना लिखा परन्तु चलना नहीं लिखा। प्रकरण देखने और अनुमानसे सिद्ध होता है कि प्रभु चले, वहाँ—*'कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा'* का छूटना लिखा। इसमें हेतु यह कि प्रभु वहाँ असावधान थे, किन्तु यहाँ विभीषणजीसे मिलनेके लिये सावधान हैं, अतः यहाँ धनुष आदिका छूटना नहीं कहा।

वि० त्रि०—पूर्णतः शरणागत देखकर सरकार स्वयं उठ पड़े। उठते ही सबने देखा, कैसे विभीषणके पास पहुँचे यह किसीने न देखा। यह सरकारका लाघव है, यथा—*'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥'* इतनी त्वराका कारण सरकारकी भक्तवत्सलता है, शरणागतको जमीनपर पड़ा हुआ नहीं देख सकते। सरकार आजानुबाहु हैं, विभीषणके उठानेमें अधिक झुकना भी न पड़ा, उठाकर हृदयसे लगा लिया।

टिप्पणी—३ *'अनुज सहित मिलि·········'* इति। (क) भाईसहित मिलना न कहते तो विभीषणसे मिलनेमें उनकी अप्रसन्नता समझी जाती जैसी सुग्रीवकी अप्रसन्नता जान पड़ी। जिसे श्रीरामजी अङ्गीकार करते हैं, उसे लक्ष्मणजी भी अङ्गीकार करते हैं। अब श्रीरामजीने उन्हें हृदयसे लगाया और वे प्रभुके मनको अच्छे लगे तब लक्ष्मणजीने भी उन्हें हृदयसे लगाया। पुनः, राजाओंसे मिलनेका ऐसा ही कायदा है, यथा—*'सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा॥'* (कि० ४। ७) (गीतावलीमें सबसे विभीषणजीको मिलाकर परम निकट बैठाना लिखा है, यथा—*'सादर सबहि मिलाइ समाजहि निपट निकट बैठारि कै।'* (५। ३। ६); मानसमें कविकी सावधानता दृष्टिगोचर होती है। *'कर गहि परम निकट'* बिठाये जानेका सौभाग्य श्रीहनुमान्‌जीको मिला है)। (ख) *'ढिग बैठारी'*। यह अत्यन्त आदर है, यथा—*'अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपाल खरारी॥'* (६। ३७। ४), विशेष *'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥'* (३३। ४) में देखिये।

टिप्पणी—४ जैसे विभीषणजी मन वचन कर्मसे प्रभुके प्रेममें मग्न थे वैसे ही यहाँ प्रभुने भी इनमें अपना तन मन वचन लगाया। तनसे भक्तका भय दूर किया और देखकर उठे, भुजासे उठाकर हृदयसे लगाया। अब वचनसे भक्तका भय हरते हैं और आगे उरमें बसाना कहते हैं—*'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय·········'॥*

कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥ ४॥
खलमंडली बसहु दिनराती। सखा धर्म निबहइ केहि भाँती*॥ ५॥

अर्थ—हे लंकेश! परिवारसहित अपना कुशल कहो। तुम्हारा निवास कुठौर (बड़े बेमौके, बुरे स्थानपर) है॥ ४॥ हे सखा! तुम दिन-रात खलोंके समाजमें रहते हो, तुम्हारे धर्मका निर्वाह कैसे होता है?॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'कहु लंकेस·······'* इति। (क) लंकेश बनानेकी इच्छा है; इसीसे लंकेश सम्बोधन देकर लङ्कापति बनाया। लङ्काके भविष्याधिपत्यका इस शब्दसे प्रथम ही बीजविन्यास कर दिया। यहाँ 'भाविक अलङ्कार' है। वचनसे 'लङ्केश' कहते ही वे लङ्केश हो गये; क्योंकि प्रभुका वचन असत्य नहीं होता, यथा—*'जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥'* (४। ७। २३) (ख) परिवारकी कुशल पूछी क्योंकि *'प्रनत कुटुंबपाल रघुराई'।* कुशल पूछनेके हेतु *'कुठाहर बास'* और 'खल मण्डलीमें निवास' है जहाँ सज्जनोंके लिये अनेक विघ्न बने ही रहते हैं। यथा—*'मिलत एक दारुन दुख देहीं'।* *'कुठाहर'* में कुशल असम्भव है, यथा—*'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी॥'* (यह विभीषणजीने श्रीहनुमान्‌जीसे स्वयं ही कहा है।) (ग) *'बास तुम्हारा'* का भाव कि औरोंके लिये तो वह *'सुठाहर'* ही है किंतु तुम्हारे लिये *'कुठाहर'* है।

टिप्पणी—२ *'खल मंडली बसहु·········'* इति। (क) किस बातकी कुशल पूछी, यह यहाँ स्पष्ट किया। धर्मका निर्वाह होना कुशल कहलाता है। यही संदेह हनुमान्‌जीने भी किया था कि *'लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥'* (ख) *'खल मंडली बसहु'* अर्थात् उनके बीचमें बसते हो; जहाँ धर्म कानसे भी नहीं सुनायी देता, यथा—*'अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धरम सुनिय नहिं काना।'* (१। १८३); तात्पर्य कि खल धर्मके नाशक हैं, यथा—*'जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥'* (१। १८३। ५) यहाँ कुठाहरका अर्थ स्पष्ट किया कि चाहे सोनेका चाहे मणिका स्थान बना हो पर जहाँ खलमण्डली है वही कुठाहर है [इससे सूचित किया कि ऐसा स्थान धर्माचरणके लिये उपयुक्त नहीं है। (प० प० प्र०)] और चाहे झोपड़ी हो पर वहाँ संतमण्डली हो तो वही सुठाहर है। पुनः, *'खलमण्डली'* का भाव कि एक खलका ही सङ्ग दुखदायी होता है, क्योंकि *'खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव·······'* (७। १२१। १८), *'पर दुख हेतु असंत अभागी।'* (७। १२१। १५) और तुम तो खलसमाजमें ही रहते रहे हो तब तो धर्मका निर्वाह वहाँ असम्भव ही था, क्योंकि खलोंका स्वभाव ही है कि *'करहिं मोहबस द्रोह परावा। संत संग हरिकथा न भावा॥'* (ग) *'दिन राती'।* भाव कि कुछ भी समयका अन्तर पड़े तो धर्म निबह जाय। पर तुम्हें तो कभी भी छुटकारा ही नहीं मिलता। यह बात सुनकर विभीषणजी कुछ भी न बोले, तब प्रभु स्वयं ही कहने लगे। [सखा सम्बोधन करके पूछनेका एक भाव यह है कि तुम्हारा हमारे साथ सख्यत्व धर्म किस प्रकार निबहता है। (पां०)]

मै जानौं तुम्हार सब रीती। अति नय निपुन न भाव अनीती॥ ६॥
बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता†॥ ७॥

अर्थ—मैं तुम्हारी सब रीति (व्यवहार) जानता हूँ। तुम नीतिमें अत्यन्त निपुण हो। तुम्हें अनीति अच्छी नहीं लगती॥ ६॥ हे तात! नरकका वास भले ही हो पर विधाता दुष्टका सङ्ग कदापि न दे॥ ७॥

---

* ब्र० चं०—दोहा ४५ (१, २, ३, ५) 'कहु०' पायकुलक, 'कुशल०' तामरस।

† ब्र० चं०—'अति०' चण्डी, 'दुष्ट०' स्वागता, शेष पायकुलक।

टिप्पणी—१ *'मैं जानौं तुम्हार सब रीती।.......'* इति। (क) भाव यह कि जैसे विभीषणजी लङ्कामें भी रहकर श्रीरामजीकी रीति जानते हैं, वैसे ही श्रीरामजी उनकी रीति जानते हैं। (ख)—*'सब रीति'*=लोकरीति, वेदरीति, धर्मरीति, साधुरीति और नीतिरीति। (ग) प्रथम *'खल मंडली बसहु'* कहकर अब *'न भाव अनीती'* कहा। इससे जनाया कि उनका दोष तुममें नहीं व्याप्त हुआ, यथा—*'बिधिबस सुजन कुसंगत परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥'* (१। ३। १०), *'अहि अघ अवगुन नहि मनि गहई।'* (२। १८४। ८) (घ) विभीषणके *'सहज पाप प्रिय'* का यह उत्तर है—*'मैं जानौं.......'*। अर्थात् तुम पापी नहीं हो, धर्मात्मा हो। [ऐश्वर्यभावमें तो श्रीरामजी स्वतः सर्वज्ञ होनेसे सब जानते हैं। माधुर्यपक्षमें श्रीहनुमान्‌जीसे सुनकर जानते हैं।]

टिप्पणी—२ *'बरु भल बास नरक कर.......'* इति। (क) *'देइ बिधाता'* का भाव कि विधिवश सज्जन कुसङ्गतिमें पड़ते हैं वही यहाँ कहते हैं कि विधाता दुष्टसङ्ग न दे। तब प्रश्न होता है कि पापके फलका भोग कैसे होगा? उसपर कहते हैं कि कुसङ्गके बदलेमें नरकवास दे दें वह अच्छा है। [यद्यपि नरकका वास अङ्गीकार करने योग्य नहीं है फिर भी दुष्ट-सङ्गकी अपेक्षा उसे गुणकारी मानकर स्वीकार करना 'अनुज्ञा अलङ्कार' है। (वीर)] (ख) विभीषणजीने अपनेको रावणका भाई कहकर अपनेमें सङ्ग-दोष दिखाया। श्रीरामचन्द्रजी अपनी ओरसे इस बातको समझकर दुष्ट-सङ्गका दोष कहते हैं। (ग)—विभीषणजीने उनसे कुछ न कहा, हनुमान्‌जीसे कहा था, यथा—*'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी॥'* और कुम्भकर्णसे भी कहा है कि *'तात लात रावन मोहि मारा। कहत परम हित मंत्र बिचारा॥'* (लं० ६३); इस भेदसे जनाया कि स्वामीसे प्रपञ्चकी बात न कहे और न बहुत कहे, यथा—*'सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि।'* (२। २००)

नोट—१ *'बरु भल बास नरक कर ताता'* इति। नरकवासको भला कहा, क्योंकि—(क) वहाँ भगवान् याद आते हैं और दुष्टकी सङ्गतिमें भगवान् कभी याद नहीं आते। (नं० प०) (ख) वहाँ पापरूप अपकर्मोंका प्रायश्चित्त हो जाता है। नरककी निवृत्ति तो हो भी जाती है पर खल-सङ्गसे प्रथम भी दुःख और अन्तमें नरकका भी दुःख, दुःखकी निवृत्ति कभी भी नहीं होती। (मा० त० भा०) **'वरं हि नरके वासो न तु दुश्चरित्ते गृहे। नरकात् क्षीयते पापः कुगृहान्न निवर्तते॥'** (गरुड़पुराण) नरकवास क्यों अच्छा है? इसका कारण इस श्लोकमें दिया है कि नरक-भोगसे पापका क्षय होता है और कुगृहवाससे तो पाप बढ़ता ही है।

श्रीलमगोड़ाजी—श्रीतुलसीदासजीकी कलामें सिद्धान्त और उपदेशपूर्ण वाक्य भी ऐसे मौकेके होते हैं कि वे रस और भावसे ओत-प्रोत हो जाते हैं, रूखे-सूखे नहीं रह जाते।

अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया*॥ ८॥

दो०—तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहु मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम॥ ४६॥

अर्थ—हे रघुराज! अब आपके श्रीचरणोंके दर्शनसे कुशल है, जो आपने अपना जन जानकर मुझपर दया की (भाव कि जब आप अपना जन जानते हैं तब दया करते हैं, तब आपके चरणोंके दर्शन होते हैं और दर्शन होनेसे कुशल होता है)॥ ८॥ तबतक जीवकी कुशल नहीं और न स्वप्नमें भी मनको विश्राम (मिलता) है जबतक शोक-धाम (शोकका घर), कामको त्यागकर वह श्रीरामको नहीं भजता॥ ४६॥

टिप्पणी—१ (क) *'अब पद देखि कुसल'* अर्थात् पद ही कुशलका मूल है, यथा—*'कुसल मूल पद पंकज पेखी। मैं तिहुँ काल भाग्य निज लेखी॥'* (२। १९५। ७) (ख) *'अब पद देखि कुसल'* से अपना कुशल कहा और *'जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया'* से परिवारका कुशल जनाया। यथा—*'अब प्रभु परम अनुग्रह तोरें। सहित कोटि कुल मंगल मोरें॥'* (२। १९५। ८)

* ब्र० चं० ने सात ही अर्धालियाँ दी हैं। दोहा ४६ मच्छ दोहा है।

टिप्पणी—२ विभीषणजीने पाँच प्रकारसे कुशल कही। पदारविन्दके दर्शनसे—(१)। प्रभुकी दयासे—(२)। भजनसे, यथा—*'जब लगि भजत न'*—(३)। रामजीके हृदयमें निवाससे, यथा—*'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा।'* क्योंकि जबतक खल हृदयमें बसते हैं तबतक कुशल कहाँ सम्भव है।—(४)। प्रभुप्रतापके हृदयमें बसनेसे, यथा—*'ममता तरुन तमी अँधिआरी। राग द्वेष उलूक सुखकारी॥ तब लगि बसत जीव मन माहीं। जब लगि प्रभुप्रताप रबि नाहीं॥'* ममतादिके रहते सुख नहीं—(५)।

टिप्पणी—३ *'अब पद देखि'* उपक्रम है, *'देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेब्य जुगल पदकंज'* उपसंहार है। पदके दर्शनसे प्रसंग उठाया और उसीपर समाप्त किया।

टिप्पणी—४ (क) *'जानि जन दाया।'* जीवको अपना उत्पन्न किया हुआ जानकर उसपर दया करते हैं, यथा—*'अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥'* (७। ८७) जीवकी कुशल नहीं होती है, कुशल तभी होती है, जब प्रभु अपना जन जानकर दया करते हैं। यही भाव *'अब'* शब्दका है, अर्थात् तब न थी क्योंकि तब आपके पदकमलका दर्शन प्राप्त न था, अब हुआ। (ख) *'जौं'* का भाव कि यदि शत्रु रावणका भाई और राक्षस पापी समझकर आप दया न करते तो कुशल न होती।

टिप्पणी—५ (क) *'तब लगि कुसल न………'* इति। कुशल और विश्राम दो शब्द देकर बाहर और भीतर दोनोंकी कुशल और विश्राम जनाया। 'न' और 'सपनेहु' दोनों दीप-देहली न्यायसे दोनोंमें लगेंगे। (ख) *'सोक धाम तजि काम'* इति। काम भजनका बाधक है, इसीसे उसे छोड़कर भजन करनेको कहा, यथा—*'बचन करम मन मोरि गति भजन करहि निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥'* (३। १६); भाव कि निष्काम भजनसे प्रभु हृदयमें बसते हैं; तब कामादि विकार वहाँसे भाग जाते हैं; जबतक निष्काम भजन नहीं होता तबतक विश्राम नहीं मिल सकता, यथा—*'पाकारिजित काम बिश्राम हारी।'* (विनय ५८) भजन ही मनको विश्राम देनेवाला है। (ग) ☞ शोक होना कुशलका न होना है! जैसे लंकामें विभीषणकी कुशल न थी वैसे ही प्राणीके हृदयरूपी लंकामें कामादि विकारोंके रहते जीवका कुशल नहीं। यह उपदेश है।

नोट—१ *'जब लगि भजत न राम कहुँ……'*, यथा-*'हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं। भजिअ राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं॥'* (७। १०४) *'काम'* समस्त वासनाओंका वाचक है। [श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—**'तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः। तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥'** (भा० ३। ९। ६) अर्थात् जबतक यह जीव आपके अभयरूपी चरणोंको नहीं भजता तभीतक धन, गृह, सुहृदके कारण होनेवाला भय है। तभीतक शोक, आकांक्षा, पराभव, भारी लोभ और कष्टकी जड़ 'मैं हूँ' 'यह मेरा है' इस प्रकारका असत् आग्रह भी रहता है। (ब्रह्माजीने ये वचन भगवान्‌से कहे हैं)। कामनाएँ शोककी देनेवाली हैं, यथा—*'तुलसी अद्भुत देवता आसा देबी नाम। सेएँ सोक समर्पई बिमुख भएँ अभिराम॥'* (दो० २५८); इसीसे कामको शोकधाम कहा। उनसे विमुख होनेपर ही शान्ति प्राप्त होती है, इसीसे *'तजि काम'* कहा।]

तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ १॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥ २॥

शब्दार्थ—**मच्छर**=मत्सर, ईर्ष्या, डाह।

अर्थ—लोभ, मोह, मत्सर, मद और मान आदि अनेक खल तबतक हृदयमें बसते हैं, जबतक धनुष-बाण और कमरमें तरकश धारण किये हुए श्रीरघुनाथजी हृदयमें नहीं बसते॥ १-२॥

टिप्पणी—१ (क) हृदयमें काम ही नहीं किंतु और भी बहुत विकार हैं; इसीसे *'नाना'* पद दिया। और षट् शत्रु जनानेके लिये छः विकार कहे—एक *'काम'* तो दोहेमें कहा गया और पाँच यहाँ कहते हैं। (ख) *'खल मंडली बसहु दिन राती।……'* इस वचनका उत्तर दे रहे हैं कि बिना आपके इसका

संग नहीं छूटता, बाहरके खल छूटे तो भीतर अनेक खल हैं। (ग) खलोंमें 'काम' को प्रथम स्थान दिया, आदिमें कहा (क्योंकि यह सबसे प्रबल और प्रधान है), यथा—*'मारि कै मारु थप्यो जग मैं जाकी प्रथम रेख भट माँहीं।'* (वि० ४), *'खल कामादि निकट नहिं जाहीं।'* (७। १२०। ६), *'काम आदि मद दंभ न जाके।'* (३। १६। १२) जैसे खलोंमें मेघनादका आदि स्थान है, वैसे ही षट्‌विकाररूपी खलमंडलीमें कामका आदि स्थान है, मेघनादको कामसे उपमा दी गयी है, यथा—*'बारिदनाद जेठ सुत तासू। भट महँ प्रथम लीक जग जासू॥', 'जेहि न होइ रन सनमुख कोई। सुरपुर नितहिं परावन होई॥'* (१। १८०), *'पाकारिजित काम बिश्रामहारी'* (विनय ५८)।

प० प० प्र०—विभीषणजीने लोभ, मोह, मत्सर, मद और मानको ही कहा। काम और क्रोधको नहीं कहा। कारण कि बिना काम, क्रोधके त्याग किये कोई भगवत्सम्मुख होता ही नहीं। शरण जानेपर भी मान, प्रतिष्ठाका लोभ, भगवान्‌की गूढ़ लीला देखनेपर मोह, भक्तिका और काम-क्रोधादिको जीतनेका मद (गर्व), अपनेसे दूसरोंकी अधिक मान-प्रतिष्ठा देखकर मत्सर, इत्यादि अनेक खल हृदयमें प्रवेश कर सकते हैं। इस कथनमें विभीषणजीका आशय यह है कि दर्शनसे नेत्रोंको तो अतीव आनन्द हुआ पर जबतक मेरे हृदयमें आप साकार श्रीरघुनाथरूपसे न बसेंगे तबतक मेरे हृदयको पूरी शान्ति न मिलेगी। अतएव यह कृपा कर दीजिये।

टिप्पणी—२ *'जब लगि उर न बसत रघुनाथा।'''''''* इति। (क) *'रघुनाथ'* पद देकर जनाया कि सगुण ब्रह्म जब बसें तब मन निर्विकार हो। शत्रुको मारनेके लिये धनुषबाण लेकर हृदयमें बसकर दासकी रक्षा करते हैं, यथा—*'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।'* (३। ४३) निर्गुण ब्रह्म रक्षा नहीं करते। यथा—*'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'* (१। २३। ७) उदाहरण—निर्गुण उपासक लोमशको क्रोध हुआ, यथा—*'उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भये क्रोध के चीन्हा॥'* सगुण उपासक भुशुण्डिजीको क्रोध न आया, यथा—*'उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'* (७। ११२) निर्गुण ब्रह्मने ऋषिकी रक्षा न की, सगुणने भुशुण्डिकी रक्षा की। यथा—*'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहिं मोर बल निजबल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥', 'करउँ सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी॥',* (आ० ४३)

मा० त० सु०—श्रीविभीषणजी हृदयमें वीरस्वरूपका ध्यान रखकर लङ्कासे चले हैं; यथा—*'राम सत्यसंकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि। मैं रघुबीर सरन अब जाउँ''''''।'* (४१); अत: इस समय भी वीरभावसे ही देख रहे हैं। दूसरे, श्रीरामजी इस समय शत्रुनाशनमें तत्पर होनेसे शस्त्रसम्पन्न ही रहा करते थे, अब उन्हें शरचापादियुक्त देखा।

श्रीलमगोड़ाजी—सामवेदके अन्तमें कहा है कि 'आप सबके ऊपर शासक होनेसे सबके भय देनेवाले (भीम) हैं। आप हमारे बाहरी और अन्त:शत्रुओंका, राजाके समान विनाश करें।' पर हम अगर-मगरमें पड़े रहते हैं जो रजोगुणका प्रभाव है (जैसे यदि वे राजा हैं तो जीत लूँगा और यदि भगवान् हैं तो भी उनके हाथसे ही मरना अच्छा है) और प्रत्यक्ष प्रकट होनेपर भी शरणागत नहीं होते। रावणकी अवस्था भी गनीमत है, नहीं तो अंग्रेजीकी कहावत ही ठीक है कि 'हम युगोंतक प्रभुकी प्रतीक्षा करते हैं और जब वे आते हैं तब हम उन्हें सूलीपर चढ़ा देते हैं।' कारण कि चारों तरफ तमोगुणका ही राज्य है। हाँ, इसीलिये तो 'धनुषधारी राम' की जरूरत है।

ममता तरुन तमी अँधिआरी। राग द्वेष उलूक सुखकारी॥ ३॥
तब लगि बसत जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥ ४॥

अर्थ—ममतापूर्ण अँधेरी रात है, जो राग-द्वेषरूपी उल्लुओंको सुख देनेवाली है॥ ३॥ ये तबतक जीवके हृदयमें बसते हैं जबतक प्रभुप्रतापरूपी सूर्य (वहाँ) नहीं हैं। अर्थात् जैसे सूर्योदयसे अन्धकारका नाश हो जाता है वैसे ही हृदयमें रामप्रतापके आनेसे ये विकार नष्ट हो जाते हैं। रामप्रताप सूर्य है॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) षट्शत्रुरूपी निशाचरोंका नाश कहकर अब 'निशा' का नाश कहते हैं, क्योंकि जबतक यह बनी रहेगी यही दु:ख देगी। (ख) स्त्री, पुत्र, धन, धाम, प्रतिष्ठा आदिमें आसक्ति ममत्व है, यथा—'*सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी॥*' (वि० १४०) ममता सदा तरुण बनी रहती है, इसीसे उसको '*तरुन तमी अँधियारी*' अर्थात् अमावस्याकी और वह भी अर्द्धरात्रिके घोर अन्धकारवाली रात्रिसे उपमा दी। तमी=रात्रि, निशा। पुन: (ग) ममतामें कुछ सूझता नहीं, इससे '*अँधियारी*' कहा। (घ) राग-द्वेषको ममताके स्नेही कहनेका भाव कि जहाँ ममत्व है वहीं राग-द्वेष (किसीसे प्रीति, किसीसे विरोध) है, जैस उल्लू अन्धकारका स्नेही है।

मा० त० सु०—जिस प्रकार यहाँ '*ममता तरुन तमी अँधियारी*' कहा, उसी प्रकार बालकाण्डमें '*नृपन्ह केरि आसा निसि नासी॥*' (१। २५५। १), अरण्यकाण्डमें '*नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥*' (३। ४४। ७) और उत्तरमें '*प्रथम अबिद्या निसा नसानी*' कहा है। पुन:, जिस प्रकार यहाँ '*रागद्वेष उलूक सुखकारी*' कहा उसी प्रकार बालकाण्डमें '*कपटी भूप उलूक लुकानें*', अरण्यमें '*पाप उलूक निकर सुखकारी*' और उत्तरमें '*अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने*' कहा है। मायाका प्रधान रूप स्त्री ही होती है, यथा—'*तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि*', '*नारि बिस्नु माया प्रगट*'। ममताके उदयका भी प्रधान कारण नारी ही है; अविद्याका मूल भी स्त्री ही होती है और राजाओंकी आशाओंका कारण भी नारी ही है; अतएव नारी ही निबिड़ (घनी) अँधियारी रात्रि हुई। क्योंकि श्रीराघवने स्पष्ट कहा है, यथा '*काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥*', पुन:, '*अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि। ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि॥*', पुन:, '*एहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सो भारी॥*' पापरूपी उलूक सब जगह रहता है।

प० प० प्र० स्वामीका भी यही मत है कि 'यहाँ 'ममता' '*नारि निबिड़ रजनी अँधियारी*' नारिका, मायाका ही ग्रहण करना उचित है। यह ऊपरकी अर्धालीसे मिलान करनेसे स्पष्ट हो जाता है। यहाँ ध्वनितार्थ यह है कि रावणके हृदयमें '*कालराति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति (ममता) घनेरी॥*' इस ममतारूपी रात्रिका नाश लंकामें आपके प्रतापरविके उदित हुए बिना नहीं होगा।''

टिप्पणी—२ '*तब लगि बसत*······' यथा—'*जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥*······*प्रथम अबिद्या निसा नसानी॥ अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने॥*' (७। ३१), '*तुलसी मिटै न मोह तम किएँ कोटि गुन ग्राम। हृदय कमल फूलै नहीं बिनु रबिकुल रबि नाम॥*' (बै० सं० २) यहाँ 'परम्परित रूपक अलंकार' है। प्रथम विनोक्तिकी ध्वनि भी प्रदर्शित हो रही है।

अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि राम पद कमल तुम्हारे॥५॥
तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला॥६॥

अर्थ—हे श्रीरामजी! आपके पदारविन्द देखकर भारी भय मिटे। अब मैं कुशलसे हूँ॥५॥ हे कृपालु! आप जिसपर अनुकूल हों उसे तीनों प्रकारकी भव-पीड़ा नहीं व्याप्त होती (भाव कि मुझे तो आपने अपने हृदयसे लगाया तब भवशूल अब कहाँ रह सकता था)॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम चरणदर्शनसे कुशल कही थी। जब अन्त:करणके खलोंका नाश कहा तब यहाँ कुशल और भारी भयका मिटना कहते हैं। (ख) 'अब मैं कुशलसे हूँ' अर्थात् कामादि खल मिटे, ममता मिटी, रागद्वेष मिटे, भारी भय मिटे, तीनों शूल मिटे। [पुन:, '*अब*' का भाव कि जबतक मैं सुत-वित-कलत्रादिमें अनुरागयुक्त हो आपका भजन करता था तबतक विषय-वासना रहनेसे कुशल नहीं था। जब सबको त्यागकर चरणकमलोंको देखा तब कुशल हुआ और भवभाररूपी '*ममता तरुन तमी अँधियारी*' मिटी जिससे मैं सुखी हुआ। यथा—'*सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरिसरन न एकौ बाधा॥*' (मा० त० सु०)]

टिप्पणी—२ '*देखि राम पद कमल तुम्हारे*' इति। भाव कि—(क) भीतरके दुष्टोंका भारी भय है सो आपके चरणोंके ध्यान से निवृत्त होता है, और मुझे तो साक्षात् दर्शन हुआ (तब क्यों न मिटते)।

ममता, राग और द्वेष जिन आपके प्रतापसे नाश होते हैं वे ही आप मेरे दृष्टिगोचर हो रहे हैं तब ये सब विकार मेरे हृदयसे क्यों न निकल जाते। तात्पर्य कि अब ये कोई विकार मेरे हृदयमें नहीं रह गये। अथवा, (ख)—जिसके हृदयमें आप और आपका प्रताप निवास करे उसमें विकार नहीं रह जाते और मुझे तो आपने हृदयसे लगाया, मेरा तो अहोभाग्य है।

टिप्पणी—३ उरमें लगाना यह अनुकूलता है। आपकी प्रसन्नतासे भवशूल नहीं होता, यथा—*'देखि पवनसुत पति अनुकूला। हृदय हरष बीती सब सूला॥', 'जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे। भवखेद छेदनदच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे॥'* (७। १३) कृपा करना अनुकूलता है, इसीसे अनुकूल होनेमें *'कृपाल'* विशेषण दिया।

वंदनपाठकजी—त्रिविध भवशूल ये हैं—'दैहिक, दैविक, भौतिक'—(१), जन्म-जरा-मरण—(२), उत्पत्ति-पालन-लय—(३), त्रयशरीर, त्रय अवस्था और त्रयगुण—(४), *'सुत बित नारि ईषना तीनी'*—(५) और 'काल कर्म स्वभाव' यथा—*'काम सुभाउ करम बरिआई। भलउ प्रकृत बस चुकइ भलाई।'*—(६)।

पाँड़ेजी—यहाँ दैहिक शूल राज्य मनोरथ, दैविक शूल गति अगतिका भय और भौतिक शूल रावणकृत जो भय है—ये सब मिटे।

मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ। सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ॥७॥
जासु रूप मुनि ध्यान न आवा। तेहि प्रभु हरषि हृदय मोहि लावा*॥८॥

अर्थ—मैं निशाचर हूँ, मेरा अत्यन्त अधम स्वभाव है, (मैंने) शुभ आचरण (व्यवहार) कभी भी नहीं किये॥ ७॥ जिनका स्वरूप मुनियोंके ध्यानमें नहीं आता, उन्हीं प्रभुने हर्षित होकर मुझे हृदयसे लगाया॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'मैं निसिचर·······'* इति। अपनेको निशिचर कहा, क्योंकि निशिचर शुभ आचरण कदापि नहीं करते। यथा—*'मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥ जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी॥'* (१। १८४) (ख) *'अति अधम'*। अर्थात् निशाचर अधम होते ही हैं, मैं उनमें भी अधिक अधम हूँ। ऐसे ही शबरीजीने अपने सम्बन्धमें कहा है, यथा—*'अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं अति मंद अघारी॥'* (३। ३५। ३) [वा, निशाचर होनेसे अधम और कभी भी शुभाचरण न करनेसे *'अति अधम'* कहा। (मा० त० सु०) ☞ यहाँ संक्षेपमें 'निशाचर' और 'अधम' की व्याख्या बतायी कि 'जिनका स्वभाव अधम है वे ही निशाचर हैं' और 'जो शुभ आचरण नहीं करते वे ही अधम हैं।' इसीका विस्तार बालकाण्ड १८४ में है। (प० प० प्र०)] (ग) तन मन वचन तीनोंसे अधमता दिखायी। यथा—*'मैं निसिचर'* (तन), *'अधम सुभाऊ'* (मन), *'सुभ आचरन कीन्ह नहिं'* (कर्म) और वचनसे कह ही रहे हैं। (घ)—शुभ आचरणसे भगवान् मिलते हैं, यथा—*'सब साधन कर सुफल सुहावा। राम लषन सिय दरसनु पावा', 'सिय सौमित्रि राम छबि देखहिं। साधन सकल सफल करि लेखहिं॥'* पर मैंने कोई शुभ आचरण नहीं किये।

टिप्पणी २ (क) *'जासु रूप मुनि ध्यान न आवा।·······'* इति। भाव कि बड़े-बड़े अच्छे सुकृती भी साधनद्वारा आपको नहीं पा सकते, इतना सुकृत हो नहीं सकता कि दर्शन हो; आप अपनी कृपासे ही मिलते हैं। मुझे जो आपने हृदयसे लगाया यह भी अपनी कृपासे। (मिलान कीजिये—*'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद। कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद॥'* (६। ११६), *'जो मूरति सपने न बिलोकत मुनि महेस मन मारि कै। तुलसी तेहि हौं लियो अंक भरि कहत कछू न सँवारि कै॥'* (गी० ५। ३६)। ☞ यहाँतक रूपके ध्यान, प्रताप, चरणदर्शन और अनुकूलताके फल दिखाये जो क्रमसे ये हैं-लोभादिका नाश, ममता रागद्वेषका नाश, लोकपरलोक दोनोंके भयका नाश और त्रिविध शूलका नाश। ☞ इस उक्तिसे भक्तिद्वारा भगवान्‌को अति सुलभ जनाया। (ख) यहाँ *'प्रथम विषम'* और 'सार अलंकार' हैं।

---

* ब्र० चं०—'जासु·········' स्वागता, शेष दोहा भर पायकुलक।

दो०—अहो भाग्य मम अमित अति राम कृपा सुखपुंज।
देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेब्य जुगल पदकंज *॥ ४७॥

अर्थ—हे श्रीरामजी! हे कृपा और सुखके समूह! मेरा अमित (अंदाज, संख्या या सीमारहित, बेहद) और अत्यन्त आश्चर्यमय भाग्य है कि ब्रह्मा और शिव जिन चरणकमलोंकी उपासना (ध्यानसे) करते हैं मैंने उन्हींको अपनी आँखोंसे देखा॥ ४७॥

टिप्पणी—१ आँखोंसे दर्शन पानेमें महत्‌भाग्यकी प्रशंसा कर रहे हैं, अहोभाग्य मानते हैं। भाव यह कि (क) रामचरणानुरागी भाग्यवान् हैं, यथा—*'सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥'*—(कि०), *'भूरि भाग भाजन भयउ मोहि समेत बलि जाउँ। जो तुम्हरे मन छाँड़ि छल कीन्ह रामपद ठाउँ॥'*—विशेष बा० २११ छन्द *'अतिसय बड़ भागी चरनन्हि लागी'* में देखिये। और जिनका इनमें अनुराग नहीं वे जीतेजी भी नरकरूप हैं, यथा—*'ते नर नरकरूप जीवत जग भवभंजन पद बिमुख अभागी'* (विनय०)। अथवा, (ख) हृदयमें लगानेसे अहोभाग्य माना क्योंकि यह बात अपने मनोरथसे बाहर है, मनोरथ चरणदर्शनका था, यथा—*'अहो भाग्य मैं देखिहौं तेई॥'*, *'ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ।'* (४२) हृदयमें लगानेका न था क्योंकि ऐसा होना असम्भव था, मनोरथ वहींतक किया जाता है जहाँतक सम्भव हो। प्रभुने यह बात अपनी ओरसे अधिक की।

टिप्पणी—२ *'अहो भाग्य मम अमित अति'* इति। (क) पदकमलके दर्शनकी अभिलाषाके समय अपनेको अहोभाग्य माना था, यथा—*'अहो भाग्य मैं देखिहौं तेई।'* अब दर्शन होनेपर *'अति अमित अहो भाग्य'* माना। (ख) पहले अपनेको जीवोंसे अधिक कहा। इस प्रकार कि सब जीवोंमें षट्‌शत्रु तबतक वास करते हैं जबतक श्रीरामजी उनके हृदयमें नहीं बसते। मैं उन्हीं श्रीरामजीको प्रकट देख रहा हूँ। मेरा भाग्य उनसे अधिक है। (अतः अहोभाग्य है)—(१)। फिर सोचे कि सब जीवोंसे मुनिलोग अधिक भाग्यवान् हैं पर मैं उनसे भी अधिक भाग्यवान् हूँ; क्योंकि *'जासु रूप मुनि ध्यान न आवा। तेहि प्रभु हरषि हृदय मोहि लावा॥'* (अतः अत्यन्त अहोभाग्य है)—(२)। फिर सोचे कि मुनियोंसे अधिक ब्रह्मा और शिव हैं। ये जीव नहीं हैं, ईश्वर हैं। ये भी इन चरणोंका ध्यान किया करते हैं, हृदयमें ही इनकी सेवा करते हैं, तनसे इनको भी सेवा प्राप्त नहीं है। मेरा भाग्य इनसे भी अधिक है कि मुझे वे ही चरण साक्षात् प्राप्त हुए। (ये अमित भाग्य हैं। मेरा *'अति अमित'* अहोभाग्य है)—(३)। पुनः, (ग) कृपा करके यह भारी सुख दिया। अतः *'अति अमित अहो भाग्य'* माना।

नोट—१ **'अति अमित'**=बहुत बड़ा। यही अर्थ प्रायः सभी टीकाकारोंने किया है। मा० त० सु०कार लिखते हैं कि 'अति'-पदका अन्वय *'कृपा सुखपुंज'* पदके साथ है अर्थात् आपकी कृपा अतिसुखका पुञ्ज है। इसी प्रकार 'अमित' पदका अन्वय 'अहोभाग्य' के साथ है अर्थात् मेरा अमित भाग्योदय है। बैजनाथजी लिखते हैं कि भाग्य सराहना प्रेमकी विक्रान्त दशा है।

नोट—२ मिलान कीजिये—**'पुमान् शेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः स एवाद्याक्ष्णोर्यः पथि चरसि भृत्यानवसि नः॥'** (भा० ४। ७। ४२) दक्षयज्ञमें भगवान्‌की स्तुति करते हुए देवताओंने कहा है कि 'सिद्धगण भी अपने हृदयमें आपके ही आध्यात्मिक स्वरूपका चिन्तन करते हैं। वही आप आज हमारे नेत्रोंके विषय हो रहे हैं, हे प्रभो! आप हम दासोंकी रक्षा कीजिये।'

नोट—३ *'राम कृपा सुखपुंज'* इति। कृपापुञ्ज हैं, अतः कृपा करते हैं, सुखपुञ्ज हैं, अतः सुख देते हैं। पुनः कृपा करके सुख देते हैं, सुकृतकी उपेक्षा नहीं करते हैं, अतः 'कृपासुखपुञ्ज' कहा। (पं० रा० कु०)

प्र०—*'जुगल'* पदसे कविके तीन आशय झलक रहे हैं—चरण-संख्या (अर्थात् दोनों चरण), दूसरा शक्ति-सहित ब्रह्मा और रुद्र और तीसरा दाहिना बाम रामसीता भाग।

---

* व्र० चं०—यह त्रिकल दोहा है। ४७ (१—४) पायकुलक है। यहाँ 'काव्यलिंग अलंकार' है।

विभीषण-शरणागतिके इस प्रसंगकी आवृत्तियाँ

(अर्थात् सूक्ष्म दिग्दर्शन)

१-प्रथमावृत्ति—दर्शनलालसाकी सफलता

विभीषणजीने तीन बार दर्शनकी अभिलाषा की, यथा—*'देखिहौं जाइ चरन जलजाता'*—(१)। *'अहो भाग्य मैं देखिहौं तेई'*—(२)। *'ते पद आज बिलोकिहौं·······'* (३)। इसीसे यहाँ तीन बार चरणोंका देखना अर्थात् इस मनोरथका सफल होना कहते हैं। यथा—*'अब पद देखि'*—(१)। *'अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि राम पद कमल तुम्हारे॥'* (२)। *'देखेउँ नयन बिरंचि·······'*।—(३)। इति प्रथमावृत्ति।

२—द्वितीयावृत्ति—षट्शरणागति

श्रीनारदपञ्चरात्रोक्त षट् प्रकारकी शरणागतियाँ ये हैं—'**आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥ आत्मनिक्षेपकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः।**' अर्थात् श्रीरामजीकी शरण-प्राप्तिमें जो-जो बात अनुकूल हो उसकी प्रतिज्ञा करना और प्रतिकूलका त्याग करना। प्रभुकी रक्षामें दृढ़ विश्वास हो अर्थात् प्रभु मेरी रक्षा अवश्य करेंगे यह विश्वास दृढ़ रहे। रक्षकरूपसे भगवान्‌को वरण करना, अर्थात् आप ही एकमात्र मेरे रक्षक हैं इस भावसे उनको स्वीकार कर लेना। अपनी आत्माको प्रभुको समर्पण कर देना और अपनी दीनता निवेदन करना। महाराज करुणासिंधुजी और बैजनाथजीने भी षड्विध शरणागतिको विस्तारसे लिखा है। करुणासिंधुजीने वाल्मीकीयके श्लोक भी यहाँ दिये हैं। उन्होंने 'वरण' की जगह 'वर्णनं' पाठ दिया है। बाल० दोहा २८ देखिये। श्रीविभीषणजीने इन छहों प्रकारसे शरणागति की।

अनुकूलका संकल्प—*'चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं॥'*

प्रतिकूलका त्याग—*'मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि। अस कहि चला बिभीषन·········।'*

रक्षामें विश्वास—*'सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा॥'*

गोप्तृत्ववरणं—*'श्रवन सुजस सुनि आएउँ प्रभु भंजन भव भीर। त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥'*

आत्मनिवेदन—*'अस कहि करत दंडवत देखा'* (त्राहि त्राहि कहकर चरणोंपर गिरना)

कार्पण्य—*'नाथ दसानन कर मैं भ्राता'* से *'जथा उलूकहि·······'* तक। दोहा ४५ में वि० त्रि० की टिप्पणी भी देखिये।

३—तृतीयावृत्ति—षड्दर्शन और उनके कृत्य

विभीषणजीने प्रभुके छः अङ्ग देखे—भुज प्रलंब— (१)। कंजारुणलोचन—(२)। श्यामल गात—(३)। सिंहकन्ध—(४)। आयत उर—(५)। *आनन अमित मदन·······*—(६)। विभीषणपर इन छहों अङ्गोंसे कृपा हुई। इन अङ्गोंके कृत्य कहते हैं।—

(१) प्रलंब भुजासे उठाया,— *'भुज बिसाल गहि·········'*

(२) कंजारुण लोचनसे देखा,— *'अस कहि करत दंडवत देखा'*

(३) श्यामलगातसे भय मिटाया,— *'स्यामल गात प्रनत भय-मोचन'*

(४-५) सिंहकंध, आयत उरसे भेंटे,— *'हृदय लगावा'*

(६) *'आनन अमित मदन मन मोहा'* से *'बोले बचन भगत भयहारी'*

४—चतुर्थावृत्ति

जो अङ्ग विभीषणजीने प्रभुमें लगाये, वही प्रभुने उनमें लगाये। दोनोंके इन्द्रियों आदिके कार्योंमें समता।

अङ्ग	श्रीविभीषणजी	श्रीरामजी
१ श्रवण	*श्रवन सुजस सुनि आयउँ*	*दीन बचन सुनि*
२ नेत्र	*दूरिहि ते देखे द्वौ भ्राता*	*करत दंडवत देखा*

३ चरण	*चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं*	*तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा*
४ मन, वचन, कर्म	*नयन नीर पुलकित अति गाता। मन धरि धीर कही मृदु बाता॥*	*दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥ बोले*………
५ मुख	*मन धरि धीर कही मृदु बाता*	*बोले बचन भगत भयहारी*
६ स्वभाव	*मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ*	*सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।*
७ भुजा	*पद अंबुज गहि*……(हाथसे)	*भुज बिसाल गहि हृदय लगावा।*

५—पञ्चमावृत्ति—अधमोद्धारक प्रश्नोत्तर

प्रश्न	उत्तर
१ *कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥*	*अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्ह जानि जन दाया॥*
२ *खलमंडली बसहु दिन राती।*	*तब लगि हृदय बसत खल नाना।*………

उत्तरका भाव यह कि आपके बिना हृदयमें खलमंडली बसती है। मोहादि विकार ही खलसमाज है। यथा—

'करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि कहि कहि सबहिं सिखाऊँ। हौं निज उर अभिमान मोह मद खल मंडली बसाऊँ॥' (विनय०)

३ *सखा धर्म निबहै केहि भाँती—मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ। सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ॥*

४ *बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥*	*तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला॥*

६—षष्ठावृत्ति—पाँच फल कहे

(१) भजनका फल कुशल और मनका विश्राम है। यथा—*'तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहु मन बिश्राम। जब लगि भजत न राम कहुँ॥'*

(२) रूपके ध्यानका फल लोभादि विकारका नाश है, यथा—*'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥'*

(३) प्रतापका फल ममता और रागद्वेषका नाश है, यथा—*'ममता तरुन तमी अँधियारी। रागद्वेष उलूक सुखकारी॥ तब लगि बसत जीव मन माहीं॥ जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥'*

(४) चरणके दर्शनसे लोक-परलोकके भय मिटते हैं; यथा—*'अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि राम पद कमल तुम्हारे॥'*

(५) रामकृपाका फल त्रिविध शूलका नाश है। यथा—*'तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला॥'*

७—सप्तमावृत्ति

(१)—जीवके हृदयमें चोर बसते हैं, यथा—*'मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥ तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोध रिपु मारा॥'* (वि० १२५)

(२)—रात्रि पाकर चोर उपद्रव करते हैं। यहाँ रात्रि बताते हैं कि *'ममता तरुन तमी अँधियारी'* है। चोरोंका उपद्रव, यथा—*'अति करहिं उपद्रव नाथा। मर्दहिं मोहि जानि अनाथा॥'*—(विनय० १२५)

(३)—सूर्यके उदयमें रात्रिका नाश है, प्रभु प्रतापके हृदयमें रहनेसे ममता आदिका नाश है—*'तब लगि बसत जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥'* रामप्रताप सूर्य है, यथा—*'जब ते रामप्रताप खगेसा। उदित भएउ अति प्रबल दिनेसा॥'* (७। ३१। १)

(४) सूर्योदयपर चोरोंका उपद्रव नहीं रहता तथा यहाँ *'मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर*

न कवनिहुँ ओरा॥' (७। ३१। ६) मिटे तब जीवका कुशल हुआ, यथा—*'अब मैं कुसल मिटे भय भारे॥'*

८—अष्टमावृत्ति—हृदयका लंकासे रूपक

(१)—हृदय लंका है। (२)—जीव विभीषण है, यथा—*'जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिन्ता।'* (वि० ५८), *'तब लगि कुसल न जीव कहँ।'* (३)—काम मेघनाद है, लोभ, मोह, मद, मान, मत्सरादि अनेक राक्षस हैं, यथा—*'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥'* (४)—निशाचरको निशा चाहिये सो ममता है—*'ममता तरुन तमी'।* (५)—जबतक रामजी धनुषबाण लेकर लंकापर चढ़ायी नहीं करते तभीतक राक्षस हैं, इसी तरह जबतक धनुर्धर राम हृदयमें नहीं बसते तभीतक लोभादि विकार हैं। (६)—जब श्रीरामजी लंकापर चढ़ आये तब त्रिलोकीके जीव सुखी हुए उनके भय मिटे; वैसे ही *'अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि.......।'* जीवपर प्रभुके अनुकूल होते ही उसके त्रिविध भवशूल मिटते हैं, यथा—*'तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला॥'* (७)—*'सबका आदि'* (सर्वोपरि) भजन है, इसीसे उसे प्रसङ्गके आदिमें लिखा, यथा—*'तब लगि कुसल न जीव कहँ सपनेहुँ मन बिश्राम। जब लगि भजत न राम कहँ...... ॥'*

☞ इस रूपकका प्रमाण विनयमें है, यथा—*'वपुष ब्रह्मांड सुप्रवृति लंकादुर्ग रचित मन-दनुज-मय रूपधारी।' बिबिध कोसौध अति रुचिर मंदिर निकर सत्वगुन प्रमुख त्रय कटककारी॥ कुनप अभिमान....... ॥ मोह दसमौलि तद्भ्रात अहकारँ पाकरिजित काम बिश्रामहारी। लोभ अतिकाय मत्सर महोदर, दुष्ट क्रोध पापिष्ट विबुधांतकारी॥..... जीव भवदंघ्रिसेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता। नियम यम सकल सुरलोक लोकेश लंकेश वश नाथ अत्यंत भीता॥.......दुष्ट दनुजेश निर्वंशकृत दासहित विश्वदुखहरण बोधैकरासी। अनुज निज जानकीसहित हरि सर्वदा दास तुलसी हृदय कमल बासी॥'* (५८)

९—नवमावृत्ति

विभीषणोक्ति	श्रीरामजीकी उक्ति
१— स्वामी! आपने मुझे हृदयसे लगाया *'सो प्रभु हरषि हृदय मोहि लावा।'*	तुम तो मेरे हृदयमें बसते हो—*'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे॥'*
२— *'मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ'*	अधम उधारन हूँ। *'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ॥'*
३— मुझमें लोभादिका बास है—*'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥'*	*'तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना।'* अर्थात् मैं इनपर दृष्टि नहीं डालता।
४—जिनका रूप मुनियोंके ध्यानमें नहीं आता उन प्रभुने मुझे हृदयसे लगाया।	तुम्हीं ऐसे संतोंके लिये हम अवतार लेते हैं—*'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरेउँ देह नहिं आन निहोरे॥'*
५—*'सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा॥'* इसकी रामजीने पुष्टि की।	*'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥'.........करौं सद्य तेहि.........।'*
६—मैं पापी हूँ—*'सहज पाप प्रिय तामस देहा'।*	मैं पापीको शरणमें रखता हूँ..........*'जौं नर होइ चराचर द्रोही।.........'* इत्यादि।
७—ये सब परिवार छोड़कर आये हैं।	अतः श्रीरामजी कहते हैं—*'जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी।.........अस सज्जन मम उर बस.........'*

१०—दशमावृत्ति—भक्तोंकी तीन कोटियाँ

१ निकृष्ट { *'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना॥'* (यह असाधु था, शरण आनेसे साधु हुआ।)

२ मध्यम { *'जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बर डोरी॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥ अस सज्जन मम उर बस कैसे॥ लोभी हृदय बसै धन जैसे॥'* (यह निकृष्टसे अच्छा है। सबकी ममता छोड़कर इसने रामचरणमें ममत्व किया।)

३ उत्तम { *'सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम। ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विजपद प्रेम॥'* (इनका विप्र हनुमान्‌जीमें प्रेम देखा गया।)

११—एकादशावृत्ति—कर्मी, ज्ञानी, उपासक

१ चराचर-द्रोही पापकर्म करता है, शरण आनेपर प्रभु उसे साधु-समान करते हैं। अर्थात् पापीको सुकृती बनाते हैं।—यह कर्मीका वर्णन हुआ।

२ *'जननी जनक बंधु सुत दारा'* से *'अस सज्जन'* तक ज्ञानीका वर्णन है। ममताका त्याग ज्ञानी करते हैं, यथा—*'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी॥'* (४। १६। ५) पुनः, ज्ञानी समदर्शी भी होते हैं, यथा—*'देख ब्रह्म समान सब माहीं,' 'रूप धरे जनु चारिउ बेदा। समदरसी मुनि बिगत बिभेदा॥'*

३ *'सगुन उपासक परहित निरत.......'* ये उपासक हैं। तात्पर्य यह कि पापीको सुकृती बनाते हैं, ज्ञानीको हृदयमें बसाते हैं और उपासक प्राणके समान प्रिय हैं।

दो०—अक्षरार्थ आवृत्ति पुनि षट शरणागति जानु।
प्रभुदर्शन उपकार पुनि इंद्रिन उतर बखानु॥ इति॥

श्रीभरत-विभीषण शरणागतिका मिलान

आनुकूलस्य संकल्पः	१ *'एकइ आँक इहै मन माहीं' प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं॥'*	१ *'मैं रघुबीर सरन अब जाउँ' 'देखिहौं जाइ चरन जलजाता।'* इत्यादि
प्रातिकूलस्य वर्जनम्	२ *'जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई॥' 'तज्यो.... भरत महतारी'*—(विनय०)।	२ *'सचिव संग लै नभपथ गयऊ। सबहि सुनाइ कहत अस भयऊ॥ राम सत्य संकल्प.........'* इत्यादि।
	'कैकेयी जौं लौं जियति रही। तौं लौं बात मातु सो मुँह भरि भरत न भूलि कही' (गी०) *'सोक-समाज राज केहि लेखे। लखन राम सियपद बिनु देखे॥'*	
रक्षामें विश्वास	३ *'तदपि सरन सनमुख मोहि देखी।' करिहहिं मोपर कृपा बिसेषी॥ 'जद्यपि जनम कुमातु तें मैं सठ सदा सदोस'*	३ *'सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोहकृत अघ जेहि लागा॥'*
	'आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस॥' इत्यादि। *'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।' 'मैं जानौं निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥......'*	
कार्पण्य	४ *'महीं सकल अनरथ कर मूला।.....' 'फरइ कि कोदव बालि सुसाली'* इत्यादि कार्पण्य तो सर्वत्र भरा है।	४ *'नाथ दसानन कर मैं भ्राता।' निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥ 'सहज पापप्रिय तामस देहा।'* इत्यादि।
'आत्मनिवेदन	५ *'पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुटकी नाईं॥'*	५ *त्राहि-त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर। अस कहि करत दंडवत.......।*
गोप्तृत्ववरण	६ *'जग अनभल भल एक गोसाईं। कहिय होइ भल कासु भलाईं॥'*	६ *'श्रवन सुजस सुनि आयउँ.........।*

श्रीलमगोड़ाजी—World Literature (विश्व-साहित्य) की पुकार करनेवाले ध्यान दें कि महाकाव्य-कलाकी पराकाष्ठा कहाँ है? इसीसे अर्नेस्ट उड महोदयने अपनी 'An Englishman defends mother India' में साफ लिखा है कि तुलसीकृत रामायण 'तुलनामें लैटिन और ग्रीक भाषाओंके प्रामाणिक ग्रन्थोंसे भारी उतरती है (weighs favourably with the classics of Latin and Greek) पर इस कलाका पूर्ण ज्ञान न होनेसे ही Growse (ग्राउस) महोदयने लिखा है कि अयोध्याकाण्डके बाद कविकी कलाका उतार है। पाठक देखें कि चढ़ाव है या उतार!'

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥ १॥
जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥ २॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना॥ ३॥

अर्थ—हे सखा! सुनो, मैं अपना स्वभाव कहता हूँ जिसे भुशुण्डि, शंभु और गिरिजा (वा गिरिजा भी, शिवजीके बतलानेसे) जानती हैं॥ १॥ जो मनुष्य चराचरमात्रका द्रोही हो, वह भी यदि भयभीत होकर मेरी शरण तककर मेरे पास आवे॥ २॥ तो उसके मद, मोह और अनेक कपट-छलको छोड़कर अर्थात् उसके दोषोंपर दृष्टि न करके मैं उसे शीघ्र साधुके समान कर देता हूँ॥ ३॥

नोट—१ *'सुनहु सखा········सुभाऊ'* इति। (क) श्रीरामजीने वनवासके समयमें मुख्य तीन सखा बनाये। प्रथम निषादराज गुहको सखा बनाया, यथा—*'कहेउ सत्य सब सखा सुजाना।'* (२। ८८। ८) तबसे सब उन्हें 'सखा' मानने लगे। यथा—*'सखा समुझि अस परिहरि मोहू।'* (९४। १; श्रीलक्ष्मणजी), *'रामसखा तब नाव मँगाई।'* (२। १५१। ३; सुमंत्रजी), *'भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा। राम सखा सुनि संदनु त्यागा॥'* (२। १९३) इत्यादि। फिर सुग्रीवजीको सखा बनाया। यथा—*'सखा सोच त्यागहु बल मोरे।', 'सखा बचन मम मृषा न होई।'* (४। ७। १०,२३) तीसरे, विभीषणजीको; यथा—*'सखा धर्म निबहइ केहि भाँती', 'सुनहु सखा·······'।* गुह निषादराज थे। सुग्रीव वानरराज थे और फिर राजा होंगे। विभीषण राजाके भाई हैं और अब प्रभुने उनको राजा बनानेका संकल्प करके *'लंकेस'* कह तिलक कर दिया। तीनों राजाओंको सखा बनाया। क्योंकि स्वयं राजा हैं और *'प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति असि आहि।'* अतः नीतिका पालन किया। (ख) स्वभाव जाननेसे भक्ति दृढ़ हो जाती है, प्रभुमें अत्यन्त प्रेम होता है, फिर भजन छोड़ विषयोंकी ओर मन कदापि नहीं जाता। यथा—*'उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥'* (३४। ३) अतएव प्रभुने कृपा करके अपना स्वभाव कहा।

टिप्पणी—१ *'जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ'* इति। (क) भुशुण्डिजी और शिवजी, ये दोनों श्रीरामजीके स्वरूप और स्वभावके जाननेवालोंमें प्रामाणिक माने जाते हैं, यथा—*'जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥ जो भुसुंडि मन मानस हंसा।·······देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।'* (१। १४६; मनु) यह रूपका प्रमाण हुआ। स्वभावका प्रमाण, यथा—*'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥'* (७। १२४), *'उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥'* (३४। ३) (ख)—यहाँ शम्भुको मध्यमें रखा, एक ओर भुशुण्डिजी हैं और एक ओर गिरिजा; इसका तात्पर्य यह है कि शिवजीके ही द्वारा दोनोंने जाना, यथा—*'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥'* (१। ३५। ११), *'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगत अधिकारी चीन्हा॥'* (१०। ३०। ४)

[नोट—२ क्रमका कारण यह भी हो सकता है कि गिरिजा-तनमें जो कथा और तदन्तर्गत स्वभाव गिरिजाजीसे श्रीशंकरजीने कहा वह वही है जो भुशुण्डिजीसे उन्होंने (शिवजीने) सुना था; यथा—*'तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई॥'* (७।५३।८) एवं *'सुनु सुभ कथा भवानि·······। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़।'* (१। १२०); अतएव प्रथम भुशुण्डि, फिर शम्भु तब गिरिजाजीको कहा। और, श्रीरामजीने अपना स्वभाव भुशुण्डिजीसे स्वयं ही कहा है—*'निज सिद्धांत सुनावउँ तोही।'* (७। ८६। २), अतः इनको प्रथम रखा।]

वि० त्रि०—श्रीरामजीका स्वभाव कैसा है, यह तो आगेके अर्धालियोंमें कहेंगे। यहाँ तो स्वभाव जाननेवालोंका नाम गिनाया जा रहा है। सो तीनका नाम लिया गया, भुशुण्डि, शम्भु और गिरिजाका भी। फल देखकर साधनके उत्कर्ष-विकर्षका पता चलता है। सो रामजीके स्वभाव जाननेका फल तीनोंको प्राप्त है, यथा—*'उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥'* तीनों निरन्तर भजन करते हैं। भशुण्डि, यथा—*'तजि हरि भजन काज नहिं दूजा।'* शम्भु यथा—*'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती॥'* गिरिजा, यथा—*'सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपति सदा पिय संग भवानी॥'* फिर भी *'गिरिजाऊ'* कहकर कुछ न्यूनता गिरिजामें क्यों कहते हैं? उत्तर इसका यही मालूम होता है कि भुशुण्डि और शम्भु एकान्त भजन करनेवाले हैं, इनके भजनमें किसीका साझा नहीं। गिरिजा पतिदेवता-शिरोमणि हैं, इनका भजन ऐकान्तिक नहीं हो सकता, पतिका भजन भी साथ-ही-साथ चलता रहेगा, यथा—*'पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरिपद कमल बिनीत।'* अथवा ये पहले जप नहीं करती थीं। शिवजीसे माहात्म्य सुनकर जपने लगीं, इसलिये *'गिरिजाऊ'* कहा।

टिप्पणी—२ *'चराचर द्रोही'* का भाव कि जिसे चराचर-द्रोहका पाप लगा हो, उस पापके भयसे शरण आवे। पूर्व कहे हुए *'सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा॥'* (३९। ७) विभीषणजीके इन वचनोंको यहाँ पुष्ट करते हैं। *'तकि मोही'* का भाव कि फिर और किसीका एवं कोई अवलम्ब या भरोसा न हो, केवल मुझसे ही अपना परम कल्याण समझकर मुझको ही एकमात्र अपना रक्षक जानकर शरणमें आवे।

टिप्पणी ३ (क) *'तजि मद मोह'* का भाव कि पापीके भारी पापको देखकर भी मैं उसका त्याग नहीं करता, किंतु उसके मद-मोहादि विकारोंका नाश करके उसे साधुके समान पवित्र और निर्विकार बना देता हूँ। यह अपनी शरणागतिका माहात्म्य दिखाया। (ख)—नाना छल मन-कर्म-वचनके, यथा—*'करम बचन मन छाँड़ि छल जब लगि जन न तुम्हार'।* (ग) *'सद्य'* से जनाया कि शरणागतको शीघ्र ही फल मिलता है।

प० प० प्र०—१ यहाँ काम, क्रोध और लोभका उल्लेख न करके सूचित किया कि भले ही वे आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु क्यों न हों, मैं उनको भी त्याग नहीं सकता। २ यहाँ *'मद'* से मुख्यत: साधनाहंकार और विद्या, जाति, कुल, धन, सत्ता, ऐश्वर्य, यौवन, सौन्दर्य आदिका गर्व ही अर्थ लेना चाहिये। *'मोह'* का अर्थ यहाँ विपरीत ज्ञान या अज्ञान नहीं है, पर भगवान्‌के सगुण साकार विग्रहके विषयमें संदेह, संशय, भ्रम है। जैसे मानसमें श्रीसतीजी श्रीगरुड़जीको और श्रीमद्भागवतमें चतुरानन तथा इन्द्रादिको होना वर्णित है। यह कनिष्ठ प्रकारके भक्तका लक्षण है।

नोट—३ मिलान कीजिये—**'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।.........॥'** (गीता ९। ३०-३१) अर्थात् यदि कोई अति दुराचारी भी अनन्यभाक् होकर (केवल मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझनेवाला होकर) मुझे भजता है तो उसे साधु मानना चाहिये। इसलिये कि वह ठीक निश्चयवाला है। (भाव कि उसने यह निश्चय कर लिया है कि एकमात्र भगवान् ही हमारे स्वामी, हमारे गुरु, हमारे परम भोग्य—सब भावोंसे अनुभव करने योग्य—इत्यादि सब कुछ हैं। ऐसा निश्चय करके भजनमें तत्पर है। अतः उस पुरुषका जो विपरीत आचरण है, वह बहुत छोटा है)। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है (भाव कि मेरी भक्तिकी महिमासे उसके समस्त विरोधी-गुण-समुदायका नाश हो जाता है, वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और शाश्वत शान्तिको प्राप्त होता है।)

श्लोकके (१) '**सुदुराचारी**', (२) '**अनन्यभाक्**', '**सम्यग्व्यवसितो हि**', (३) '**साधुरेव स मन्तव्यः**' '**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा**' की जोड़में मानसमें (१) *'चराचर द्रोही',* (२) *'सभय सरन तकि'* (३) *'करउँ सद्य तेहि साधु समाना'* हैं। '**स मन्तव्यः**' की जोड़में *'समाना'* है। '**क्षिप्रं भवति**' से *'करउँ सद्य'* विशेष जोरदार शब्द है।

'*सभय*' का भाव यह है कि यह समझकर आवे कि मेरे पापों, मेरे मनके समस्त विकारोंसे बचानेवाले ये ही हैं। उनका नाश एकमात्र प्रभु ही कर सकते हैं, दूसरा नहीं, यथा—'*तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोधरिपु मारा॥ अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जानि अनाथा॥ मैं एक अमित बट पारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा॥ भागेहु नहिं नाथ उबारा। रघुनायक करहु सँभारा॥* (वि० १२५)। ये सब श्रीरामजीकी कृपासे ही छूट सकते हैं। यथा—'*क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया॥*' (३। ३९। ३), '*जासु कृपा छूटहिं मद मोहा।*' (४। १८। ६)।

वाल्मीकीयमें इसकी तथा '*कोटि बिप्र बध लागहिं*……।' (४४। १-२) की जोड़में भगवान्का वाक्य यह है—'**मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम्॥**' (६। १८। ३) अर्थात् जो हमारे समीप मित्रभावसे आया है उसमें चाहे कितने ही दोष क्यों न हों, उसको मैं नहीं त्याग सकता; क्योंकि उसका त्याग करनेसे सत्पुरुषोंके समीप मैं निन्दनीय हो जाऊँगा।

नोट—४ '*तजि मद मोह*……' का अर्थ कतिपय प्राचीन टीकाकारोंने वही किया है जो हमने दिया है और शरणागति-प्रसंगके अनुकूल मुझे यही अर्थ अच्छा जँचता है। भगवान्के सम्मुख इन सबोंसे भयभीत होकर जानेसे वे कृपा करके इन सबोंको स्वयं ही छुड़ा देते हैं।

श्रीनंगे परमहंसजीने इस अर्थका बड़े जोरोंसे खण्डन किया है। वे कहते हैं कि इसी ग्रन्थमें कहा है कि '*करम बचन मनु छाँड़ि छल जब लगि जन न तुम्हार। तब लगि सुख सपनेहु नहीं किये कोटि उपचार॥*', '*निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥*'; तब यह अर्थ कैसे हो सकता है कि छल-कपट-सहित श्रीरामजीकी शरण जाय। ……ग्रन्थमें '***आवइ सभय***' कहा। तब मदमोहसहित आना कैसे कह सकते हैं। मद तो भयको रहने ही नहीं देता। यथा—'***अति अभिमान त्रास सब भूली।***' अतः अर्थ यही है कि भय-सहित मद-मोहको छोड़कर शरणमें आवे।

सम्मानपूर्वक मैं उनके इस अर्थसे सहमत नहीं हूँ। मेरी समझमें भगवान्की कृपासे ही ये छूट सकते हैं, विशेषकर इस कराल युगमें। यह शरणागतिका महत्त्व है। प्राणी इन सबोंसे भयभीत होकर शरणमें जाय।

देखिये, भगवान्ने कहा है कि रावण ही क्यों न विभीषणके रूपमें (अर्थात् कपटसे) आया हो पर वह सबके सामने कह रहा है कि मैं महात्मा राघवकी शरणमें आया हूँ, अतः मैं उसे अभय देता हूँ, तुम उसे ले आओ। ☞ यह श्रीवचन ही हम-सरीखे कपटी, कुटिल जीवोंका आधार है, यही हमको उनके सम्मुख ले जाता है। नहीं तो हम ऐसे कुटिल जीव अपने पुरुषार्थसे मद-मोहादि छोड़कर शरण हो सकते! एक जन्म क्या करोड़ों जन्म बीत जायँ!!

हाँ! यह अवश्य है कि जबतक ये विकार निर्मूल न हो जायँगे तबतक सुख न मिलेगा और तबतक भगवत्प्राप्ति न होगी। पर इनके रहते हुए प्रभुकी शरण ही प्राणी न जाय यह बात यहाँ नहीं कहते। बल्कि यह कहते हैं कि इनके उपद्रवसे डरकर शरणमें जानेसे प्रभु उसके विकारोंको दूरकर उसे साधु-समान कर देते हैं। '*चराचर द्रोही*' कहकर '*तजि मद*……' कहनेसे यह भी ध्वनित होता है कि मद, मोह, कपट, छल आदिके कारण ही चराचर-द्रोही हो रहा है। शरणमें आनेसे यह सब छूट जायँगे।

नोट—'*अस सज्जन*……*जैसे*' में उदाहरण अलङ्कार है।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ ४॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ ५॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥ ६॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥ ७॥

अर्थ—माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, घर, मित्र और परिवार॥ ४॥ (इन) सबोंके ममत्वरूपी तागोंको बटोरकर (उन सबोंको मिलाकर) डोरी बटकर उसी डोरीसे अपने मनको मेरे चरणोंमें बाँधे॥ ५॥

समदर्शी हो, कुछ इच्छा न हो और न मनमें कोई हर्ष, शोक या भय हो॥ ६॥ ऐसा सज्जन मेरे हृदयमें कैसे बसता है, जैसे लोभीके हृदयमें धन निवास करता है॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'जननी जनक………'* इति। स्त्री, पुत्र आदि सब कुसमाज माने गये हैं, इसीसे इनसे ममताका त्याग उचित कहा गया। यथा—*'सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहि रे। सबकी ममता तजि कै, समता सजि संत सभा न बिराजहि रे॥ नरदेह कहा, करि देखु बिचारि, बिगारु गँवारु न काजहि रे।'* (क० उ० ३०)

टिप्पणी—२ *'सब कै ममता ताग बटोरी।………'* इति। (क) सबसे ममता हटाकर प्रभुहीमें सर्वप्रकार ममत्व करना, यही डोरी बटना है। (ख) सबसे ममत्व हटाना कहा; क्योंकि ये सब रामभक्तिके बाधक हैं, यथा—*'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥ ये सब राभगति के बाधक।'* (३। ७। १६-१७) इसीसे इन सबोंकी ममता समेटकर श्रीरामचरणमें लगावे, यथा—*'है जग में जहँ लगि यह तनु की प्रीति प्रतीति सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभुही सो होहि सिमिटि एक ठाई॥'* (विनय १०३) तात्पर्य कि सब श्रीरामजीको ही माने-जाने। यथा—*'जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥ मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥'* (२। ७२। ५-६), *'राम हैं मातु पिता सुत बंधु औ संगि सखा गुरु स्वामि सनेही। रामकी सौंहैं भरोसो है राम को, राम रँगी रुचि राचों न केही॥ जीवत राम मुए पुनि राम सदा रघुनाथहि की गति जेही। सोइ जियै जगमें तुलसी नत डोलत और मुये धरि देही॥'* (क), **'माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः। सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने॥'** (सनत्कुमारसंहिता) विशेष अ० ७२ (५-६), अ० ७५ (७), अ० १३०, ३। १६ (१०) में देखिये। (ग)—औरोंमें ममत्व दोष था; वही रामजीमें लगनेसे गुण हो गया, भक्ति कहलाने लगी।

नोट—१ ममताको तागा कहा अर्थात् वह कच्चे धागेके समान है जो शीघ्र टूटनेवाला है। वैसे ही स्त्री-पुत्रादिमें जो ममत्व है वह अल्पकालीन है, सदा निबहता नहीं क्योंकि ये सब नश्वर हैं, स्वार्थके साथी हैं। इसीसे कहा है—*'सुत बनितादि जानि स्वारथ-रत न करु नेह सबही तें। अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर तू न तजै अबही तें॥'* (वि० १९८), *'देह जीव जोगके सखा मृषा टाँचनु टाँच्यो।'* (वि० २७७) कई कच्चे तागे मिलकर बट लिये जानेपर दृढ़ डोरी हो जाती है जिसका टूटना कठिन है, उसी तरह सब सांसारिक नाते प्रभुमें ही दृढ़ कर लिये जावें कि फिर टूट न सकें। यह भाव है।

प० प० प्र०—*'सब कै ममता………'* इति। प्रापञ्चिक ममत्वका त्याग यकायक एक ही बारमें नहीं होता, यथा—*'रस रस सूख सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी॥'* भगवान्‌में किंचित् ममत्व लग जानेसे प्रपञ्चमेंकी ममता कुछ कम होगी। इस प्रकार एक-एक विषयका ममत्वरूपी तागा बटोरते रहनेसे और उस ममत्वसे भगवान्‌के चरणोंमें मन लगानेसे प्राणी क्रमशः निर्मम हो जायगा।

नोट—२ (क) *'समदरसी'* इति। ममताका त्याग कहकर समदर्शी कहा, क्योंकि भक्तका मन संसारके विषयोंसे हटकर जब प्रभुमें लग जाता है तब वह सबमें अपने प्रभुको ही देखने लगता है यथा—*'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।'* (७। ११२) दुःख-सुख, मान-अपमान आदि सभीमें समान बुद्धि रहती है। ☞ जब *'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'*, *'अग-जग-रूप भूप सीतावर,'* *'सीयराम मय सब जग'* यह दृष्टि हो जायगी तब किसीसे रागद्वेषादि भी नहीं रह सकते। (ख) *'इच्छा कछु नाहीं'* इति। अर्थात् निष्काम हो, सकल-कामना-हीन हो। भाव कि *'जाहि न चाहिए कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह'* ऐसी वृत्तिवाला हो। [यह कैसे मालूम हो कि इच्छारहित है, इसकी परीक्षा *'हरष सोक भय नहिं मन माहीं'* इस कसौटीपर होती है। यदि मनमें हर्ष, शोक वा भयका प्रवेश हो जाय तो समझना चाहिये कि हृदयमें कहीं-न-कहीं कुछ इच्छा या ममता अवश्य छिपी हुई उपस्थित है। (प० प० प्र०)] हर्ष पदार्थके लाभका और शोक पदार्थकी हानिका। भाव कि जबतक ममता रही तबतक विषय दृष्टिमें रहा, जब ममता छूटी तब समदर्शी हुआ। (पं० रा० कु०)

टिप्पणी—३ *'लोभी हृदय बसइ धन जैसे'* इति। लोभीको धन बहुत प्रिय है, यथा—*'लोभिहि प्रिय जिमि दाम।'* (७। १३०), *'हित ज्यों धन लोभ लीन को'* (वि०)। इसी प्रकार सज्जन मुझको प्रिय है। यही प्रियत्व आगे विभीषणजीमें 'घटाते' (घटित करते) हैं। यथा—*'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे॥'* अर्थात् तुम ऐसे ही सज्जन हो कि मुझे लोभीके धनके समान प्रिय हो। प्राण-प्रिय हो, प्राणसे अधिक प्रिय संसारमें कुछ नहीं।

टिप्पणी—४ भक्तोंकी तीन कोटियाँ यहाँ दिखायी गयीं—दोहा ४७ में आवृत्ति १०, ११ देखिये। सविकारी निकृष्ट है। उसको साधु बनाया पर उसका प्रिय होना न कहा। क्योंकि वह असाधु था।—मध्यमने सब तरहसे ममत्व हटाकर प्रभुमें ममत्व किया; अतः उसे लोभीके धनके समान प्रिय कहा और अगले दोहे ४८ में उत्तम उपासकको कहते हैं कि वह प्राणसमान प्रिय है।

नोट—३ गीतामें भगवान्ने अपने प्रियका एक लक्षण **'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥'** (१२। १५) इस श्लोकमें यह बताया है कि जो पुरुष कोई ऐसा कार्य नहीं करता जिससे लोग उद्विग्न हो जायँ और जिसके उद्देश्यसे दूसरे लोग भी कोई उद्वेगकारक कर्म नहीं करते क्योंकि सभी उसको अविरोधी समझते हैं। इसीलिये जो किसीके प्रति हर्ष, किसीके प्रति ईर्ष्या, किसीसे भय और किसीके प्रति उद्वेगसे रहित हो गया है वह मेरा प्रिय है। *'समदरसी इच्छा कछु नाहीं'* में श्लोकके पूर्वार्धका भाव है और *'हरष सोक भय नहिं मन माहीं'* श्लोकके **'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः'** का ही अर्थ है तथा *'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥'*, **'यः स च मे प्रियः'** की व्याख्या है।

इसी तरह श्लोक १३ से १९ तक प्रियके और श्लोक २० में अति प्रियके लक्षण कहे हैं जो मानसके उद्धरणोंसे पाठक मिलान कर सकते हैं।

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे॥ ८॥

दो०—सगुन उपासक पर हित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विज पद प्रेम*॥ ४८॥

अर्थ—तुम्हारे जैसे संत ही मुझे प्रिय हैं। दूसरेके निहोरे या कारणसे मैं शरीर नहीं धारण करता हूँ (अर्थात् तुम ऐसे संतोंके लिये ही अवतीर्ण होता हूँ)॥ ८॥ जो सगुण ब्रह्मके उपासक हैं, परोपकार और नीतिमें तत्पर हैं, नेमके पक्के हैं और जिनका विप्रचरणमें प्रेम है, वे मनुष्य मुझे प्राणके समान प्रिय हैं॥ ४८॥

नोट—१ (क) *'तुम्ह सारिखे संत'* इति। भाव कि संत तो और भी हैं पर सर्वगुणसम्पन्न संत तुम्हारे समान कोई-कोई होते हैं ऐसे संत मुझे प्राणप्रिय हैं और ऐसोंके लिये ही अवतार लेता हूँ। यह कहकर ऐसे संतका लक्षण आगे कहते हैं—*'सगुन उपासक·······प्रेम।'* (ख) यहाँ *'तुम्ह सारिखे संत'* और दोहेमें *'प्रान समान'* कहकर भक्तों वा संतोंकी तीन कोटियाँ दिखायीं। (१) निकृष्ट वा असाधु। अर्थात् जो असाधु था, पर शरणमें आनेपर साधु-समान बना लिया गया। यथा—*'जौं नर होइ चराचर द्रोही। ········ करौं सद्य तेहि साधु समाना।'* (२) मध्यम संत, जो सबका ममत्व छोड़कर शरणमें हैं, समदर्शी, निष्काम और हर्ष-शोक-भयरहित हैं। (३) विभीषण-सरीखे संत जो सगुणोपासक, परहित-निरत, नीति-निरत, नियमके पक्के और द्विजपद-प्रेमी इत्यादि सर्वगुणसम्पन्न हैं। यह उत्तम कोटिवाले हैं। इन्हींके अनुसार प्रियकी तीन कोटियाँ हुईं—(१) साधारण प्रिय (प्रिय), (२) अधिक प्रिय, (३) अतिशय वा प्राणसमान प्रिय। उपर्युक्त निकृष्ट कोटिवाले साधारण प्रिय हैं। मध्यम कोटिवाले अधिक प्रिय हैं और विभीषण-सरीखे उत्तम संत प्राण-समान अतिशय प्रिय हैं। विशेष दोहा ४७ दशमावृत्ति देखिये। (ग) विभीषण-सरीखे संत कौन हैं? इसका उत्तर मानसमें ही मिल जाता है। जिससे प्रभुने इस प्रकारके वचन कहे हों जैसे इनसे,

* ब्र० चं०—दोहरा दोहा मिश्रित है। इसमें प्रथम निदर्शना अलंकार है।

वही इनके समान संत है। ये गुण श्रीशबरीजी और श्रीभुशुण्डिजीमें कहे गये हैं। तीनोंके मिलानसे यह स्पष्ट हो जायगा।

संत श्रीरामजीके वचनामृत

श्रीविभीषणजी— *'सुनु लंकेस सकल गुन तोरें। ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरें॥'*

श्रीशबरीजी— *'नव महुँ एकहु जिन्हके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥*
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥'

श्रीभुशुण्डिजी— *'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥*
'सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥'
'सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय॥'

उपर्युक्त मिलानसे यह भी प्रतीति होती है कि *'सकल गुन तोरें', 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें', 'भगतिवंत', 'सर्वभाव भज कपट तजि'* और *'सुचि सेवक'* पर्याय हैं, एक-दूसरेके अर्थ और भावको स्पष्ट करते हैं। इसी तरह यहाँ 'अतिशय प्रिय', 'प्राणप्रिय', 'प्राण समान प्रिय' और 'परम प्रिय' भी पर्याय हैं।

टिप्पणी—१ *'तुम्ह सारिखे·······पद प्रेम'* इति। (क) तात्पर्य कि तुम संत हो, सगुणोपासक, परहित-निरत इत्यादि सर्वगुणसम्पन्न हो; अतएव प्राणप्रिय हो—यही प्रभुने प्रथम भी कहा था, यथा—*'जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहौं ताहि प्रानकी नाईं॥'* (ख) *'धरौं देह नहिं·······'* अर्थात् ऐसे संत मुझे इतने प्रिय हैं कि मैं उनका दुःख देख वा सह नहीं सकता; अतः उनकी रक्षाके लिये अवतार लेता हूँ। (विनयमें भी कहा है—*'जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुखभार। अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनम्यो दस बार।'* (वि० ९८) मानसमें भी कहा है *'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप'* (७। ७२) विशेष *'सो केवल भगतन्ह हित लागी।'* (१। १३। ५) में देखिये।

नोट—२ *'सगुन उपासक'* कहकर जनाया कि निर्गुण उपासक भी संत होते हैं पर वे मुझे वैसे प्रिय नहीं होते जैसा भक्त प्रिय होता है। *'परहित निरत'* भी संतलक्षण है, यथा—*'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥ संत सहहिं दुख परहित लागी।·······भूर्जतरू सम संत कृपाला। पर-हित निति सह बिपति बिसाला॥'* (७। १२१। १४—१६) *'निरत नीति'*—नीतिका त्याग कभी नहीं करते। यह भी संत-लक्षण है, यथा—*'सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती।'* (३। ४६। २), *'सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं।'* (७। ३८) 'दृढ़' दीप-देहलीन्यायसे दोनों ओर है। नीतिमें दृढ़ हैं, कैसा ही विघ्न आ पड़े नीतिका त्याग नहीं करते। यथा—*'कोटि बिघ्न ते संत कर मन जिमि नीति न त्याग।'* (६। ३३); *'द्विजपद प्रेम'*—भाव कि जिस संतमें यह गुण नहीं है, वह प्राणप्रिय नहीं है।

टिप्पणी—२ *'जिन्हके द्विजपद प्रेम'।* ब्राह्मणोंमें प्रेम होना सब साधनोंकी अवधि है। इसीसे इसे अन्तमें लिखा। सब साधनोंमें इसका स्थान आदिमें है, यथा—*'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज धरम निरत श्रुति नीती॥'*

मा० त० सु०—दृढ़ शब्दका अन्वय सबमें है। प्रवृत्तिमार्गमें दृढ़तापूर्वक द्विजपदप्रीति ही भक्ति-प्राप्तिमें मुख्य कारण है, यथा—*'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती।·······तब मम चरन उपज अनुरागा।'* (३। १६। ६-७) और निवृत्तिमार्गमें सगुणोपासनामें दृढ़ता मुख्य कारण है, यथा—*'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥'* (३। ३५। ८) दोनोंको कहकर जनाया कि दोनों मार्गोंमें दृढ़ रहे, क्योंकि दोनों श्रीराघवजीके अति प्रिय हैं।

सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरे॥ १॥

अर्थ—हे लंकेश! सुनो, तुममें समस्त गुण हैं, इसीसे तुम मुझे अतिशय प्रिय हो॥ १॥

टिप्पणी—१ *'सकल गुन'* अर्थात् जो ऊपर कह आये वे सब गुण विभीषणमें हैं—(१) सबकी ममता त्यागकर आये हैं, समदर्शी हैं, कुछ इच्छा नहीं है, यथा—*'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।'* लंका छूटनेका

शोक नहीं, लंकेश होनेका हर्ष नहीं, रावणादि राक्षसोंका भय नहीं। (२) विभीषणजीने कहा था कि मैं कर्म, ज्ञान और उपासनासे रहित हूँ—निशाचरवंशमें जन्म है, इससे शुभ कर्म नहीं होते; यथा—*'मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ। सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ॥'* *'तामस देह'* है, इससे ज्ञान नहीं है। ज्ञानका उदय सत्त्वगुणसे होता है। और, *'सहज पाप प्रिय'* हूँ, इससे उपासना नहीं बन पड़ती; क्योंकि पापीको भजन अच्छा नहीं लगता। यथा—*'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥'* इसपर भगवान् कहते हैं कि तुममें सब गुण हैं, कर्म, ज्ञान, उपासना तीनों हैं। (३) सगुन उपासक हैं, यथा—*'हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा। रामायुध अंकित गृह·········'* (५। ५) इत्यादि। (४) परहित-निरत हैं। इसीसे अपमान सहकर भी रावणको उपदेश किया, यथा—*'मति अनुरूप कहौं हित ताता।'* (३८। ४), *'तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा। राम भजे हित नाथ तुम्हारा॥'* (५) संत हैं, क्योंकि पराया हित करना संत-स्वभाव है, यथा—*'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया॥'* (६) नीति-निरत हैं, यथा—*'तात अनुज तव नीति बिभूषन।'* (४०। २) (७) नेम दृढ़ है, यथा—*'राम नाम तेहि सुमिरन कीन्हा।'* (८) द्विजपद-प्रेम है, यथा—*'करि प्रनाम पूछी कुसलाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई॥'* (हनुमान्‌जी विप्रवेषमें मिले थे।)

टिप्पणी—२ *'अतिसय प्रिय'* का भाव कि जिसमें कुछ भी गुण होते है वह प्रिय होता है और तुममें तो सब गुण हैं; अतः तुम *'अतिसय प्रिय'* हो।

टिप्पणी—३ उपक्रममें 'लंकेश' सम्बोधन करके जनाया कि तुम लंकाके राजा हुए और यहाँ उपसंहारमें भी 'लंकेश' सम्बोधन देकर जनाया कि यद्यपि तुम संत हो और मुझे अतिशय प्रिय हो तथापि मैं तुमको लंकाका राज्य दूँगा। इसीपर आगे विभीषणजी कहते हैं कि *'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभुपद प्रीति सरित सो बही॥·········'*

राम बचन सुनि बानरजूथा। सकल कहहिं जय कृपाबरूथा॥ २॥
सुनत बिभीषन प्रभु कै बानी। नहिं अघात श्रवनामृत जानी॥ ३॥
पद अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा*॥ ४॥

अर्थ—श्रीरामजीके वचन सुनकर समस्त वानरोंके यूथ कह रहे हैं कि कृपाके समूह श्रीरामजीकी जय हो॥ २॥ प्रभुकी वाणी सुनकर और उसे कानोंके लिये अमृत जानकर विभीषणजी तृप्त नहीं होते॥ ३॥ वे बारंबार प्रभुके चरणकमलोंको पकड़ते हैं, अपार प्रेम है, हृदयमें नहीं समाता॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'सकल कहहिं जय कृपाबरूथा।'* (क) कृपाकी बहुतायत इससे कही कि अपनी कृपासे प्रभुने इनको सर्वगुणसम्पन्न कहा; नहीं तो निशाचरोंमें कौन गुण? यथा—*'रिपुको अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी।'* (वि० १६६) पुनः कृपा करके उठकर उन्हें हृदयसे लगाया, हाथ पकड़कर पास बिठाया, सखा बनाया, लंकेश बनाया, शरणमें रखा और सम्मान किया। (ख) जब हनुमान्‌जीको हृदयसे लगाकर परम निकट बैठाकर उनपर कृपा की और अनपायिनी भक्तिका वर दिया तब भी सब वानरवृन्दोंने जय-जयकार किया था, यथा—*'सुनि प्रभु बचन कहहिं कपिबृंदा। जय-जय-जय कृपाल सुखकंदा॥'* (३४। ५) फिर विभीषणजीकी शरणागति स्वीकार करनेपर भगवान्‌की प्रतिज्ञा सुनकर सबने जय-जयकार किया, यथा—*'जय कृपाल कहि कपि चले अंगद हनू समेत॥ ४४॥'*, और अब प्रभुके मुखारविन्दसे उनका शरणागतवत्सल-स्वभाव सुनकर तथा भक्तवत्सलता देखकर प्रसन्न हो जय-जयकार कर रहे हैं। प्रथम बार *'कृपाल सुखकंदा'*, दूसरी बार *'कृपाल'* और अब *'कृपा बरूथा'* विशेषण दिये, इससे जनाया कि तीनों बार प्रभुके कृपा-गुणका अनुभव सबने किया। (ग) वानरयूथ प्रभुका स्वभाव सुनकर सुखी हुए, इस विचारसे कि जब हमारे स्वामीका ऐसा शरणागतवत्सल स्वभाव है तब हम सब अधम लोग कृतार्थ ही हैं। यही बात आगे कवि कहते हैं, यथा—*'प्रभु सुभाउ कपिकुल मन भावा॥'* ['जय

* ब्र० चं०—(१, २), 'सुनत······' 'पद······' पायकुलक, 'नहिं······' द्रुतपा, 'हृदय······' तामरस।

बोलनेकी प्रथा वैसी ही है जैसी पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त लोगोंके समाजमें ताली बजाने या 'Hear Hear' (सुनिये-सुनिये) कहनेकी।] (घ) वाल्मी० रा० में लंकेश बनानेपर वानरोंने किलकिला शब्द और 'धन्य है, धन्य है' इस प्रकार बड़ाई करके अपना हर्ष प्रकट किया। यथा—'**तं प्रसादं तु रामस्य दृष्ट्वा सद्यः प्लवंगमाः। प्रचुक्रुशुर्महात्मानं साधु साध्विति चाब्रुवन्॥**' (६। १९। २७) अ० रा० में साधुवादके पश्चात् सुग्रीवने विभीषणजीसे कहा कि आप हम सबमें प्रधान हैं क्योंकि आपने केवल भक्तिसे प्रभुकी शरण ली है] (ङ) उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें स्वभाव शब्द दिया है। '*सुनहु सखा निज कहहुँ सुभाऊ*' और '*प्रभु सुभाउ सुनि*……।' (च) यहाँ वानरोंका जय-जयकार करना कहा पर विभीषणका जय-जयकार करना नहीं कहा। उन्होंने जय-जयकार न किया क्योंकि यदि वे जय-जयकार करते तो समझा जाता कि अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुए हैं। अतएव वे सकुचाकर चुप हो रहे, यथा—'*निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।*' (३। ४६। १)

टिप्पणी—२ '***नहिं अघात श्रवनामृत जानी***' इति। श्रीरामजीके वचनामृत सुननेपर यही हाल भुशुण्डिजीका हुआ था। यथा—'***प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ॥ सो सुख जानै मन अरु काना।***' (७। ८८) यही भाव और दशा यहाँ सूचित की। नहिं अघात जी नहीं भरता, तृप्ति नहीं होती, जी चाहता है कि सुना ही करें। अमृत-समान अर्थात् जन्म, जरा, मरण छुड़ानेवाली और अत्यन्त मधुर है। [नोट—मिलान कीजिये '***मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवनरंध्र होइ उर जब आई॥ हृष्टपुष्ट तन भये सुहाये……श्रवन सुधा सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात। बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात॥***' (१। १४५ ७—१४५ देखिये)]

टिप्पणी—३ '***पद अंबुज गहि बारहि बारा***' इति। (क) उत्तम लोगोंकी यही रीति है, यथा—'***सुनत सुधासम बचन राम के। गहे सबनि पद कृपाधाम के॥***' (७। ४७। १), '***सुनत बिभीषन बचन राम के। हरषि गहे पद कृपाधाम के॥***' (६। ११६) (ख)—'***बारहिं बारा***' इति। विभीषणजी श्रीरामचरणके अनुरागी हैं और प्रेममें मग्न हैं, इसीसे बारंबार चरण पकड़ते हैं, यथा—'***प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पदसरोज सिरु नावा॥***' (३। ३४। ९); बार-बार चरण पकड़ना कृतज्ञतासूचक है। (ग) '***हृदय समात न***' अर्थात् बाहर उमड़ा पड़ता है, नेत्रसे जलरूप हो बह निकला, शरीरसे पुलकावलिद्वारा प्रकट हुआ, इत्यादि।

सुनहु देव सचराचर स्वामी। प्रनतपाल उर अंतरजामी॥५॥
उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥६॥
अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी*॥७॥

अर्थ—हे देव! हे चराचरमात्रके स्वामी! हे शरणागतपालक और हे सबके उरके अन्तर्यामी! सुनिये॥५॥ पहले कुछ वासना मेरे हृदयमें थी परन्तु वह प्रभुके चरणोंकी प्रीतिरूपी नदीमें बह गयी॥ ६॥ हे कृपालो! अब तो शिवजीके मनको सदा रुचनेवाली और पवित्र निजभक्ति मुझे दीजिये॥ ७॥

टिप्पणी—१ '***देव***' अर्थात् आप दिव्य हैं। चराचरके स्वामी अर्थात् पालन करनेवाले हैं। '***प्रनतपाल***' हैं, यथा—'***जगपालक बिसेषि जनत्राता।***' (१। २०। ५), अतएव मेरा पालन कीजिये। 'अन्तर्यामी' हैं, अतः मेरे जीकी जानते हैं कि मेरे हृदयमें अब कोई वासना नहीं है, केवल भक्तिकी इच्छा है, सो मुझे देकर मेरा पालन कीजिये, यथा—'***जन्म को भूखो भिखारी हौं गरीबनेवाज। पेट भरि तुलसिहि जेवाइए भक्ति सुधा सुनाज॥***' (वि० २१९)

टिप्पणी—२ '***उर कछु प्रथम बासना रही***' इति। (क) श्रीरामजीने आदि-अन्त दोनोंमें इन्हें लंकेश कहा था जिससे विभीषणजी समझ गये कि मुझे ये लंकाका राजा बनाना चाहते हैं, इसीसे वे कहते हैं कि अब इसकी वासना नहीं है। यहाँ वासनाको प्रकट नहीं किया कि क्या वासना थी, आगे श्रीरामजीके वचनोंसे स्पष्ट होती है क्योंकि प्रभुने '***जदपि सखा तव इच्छा नाहीं***' कहकर '***तिलक तेहि सारा***' उनको

* ब्र० चं०—(५) द्रुतपा, १९९ वाँ, २२५ वाँ भेद, प्रियम्वदा, २२४ वाँ भेद।

राजा बनाया। (ख) *'कछु'* का भाव कि प्रभुपदप्रीतिके आगे राज्य 'कुछ' नहीं है, तुच्छ है। पुनः, यहाँ यह भी जनाया कि प्रभुपदप्रीतिसे वासनाका नाश हो जाता है।

टिप्पणी—३ *'पदप्रीति'* को नदी कहा क्योंकि ये पद सरिताके मूल हैं, इनसे गङ्गाजीकी उत्पत्ति हुई। प्रीतिको गङ्गा कहा, क्योंकि वासनाएँ अशुद्ध हैं, मलरूप हैं। हृदयसे वासनाओंके दूर हो जानेपर भी हृदय अशुद्ध रहता है, जैसे जमीनपरसे कोई बुरी वस्तु हटा दो तो भी वह जगह अशुद्ध ही बनी रहती है, बिना धोये वह शुद्ध नहीं होती। इसी तरह प्रीतिगङ्गाको पाकर वासना बह गयी और हृदय भी शुद्ध हो गया।

नोट—१ बाबा जयरामदासजी पं० रामकुमारजीसे सहमत हैं। वे लिखते हैं कि 'सच्चे और शुद्ध भक्त निष्काम होते हैं। यदि विभीषणजीको यहाँ अर्थार्थी कहें तो युक्त न होगा; क्योंकि उन्होंने पहले ब्रह्मासे वरदानमें निर्मल अनुराग माँगा था। यथा—*'तेहि माँगेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु।'* (१। १७७) यदि राज्यकी इच्छा होती तो उसी समय वे क्यों न माँग लेते? अमल अनुरागसे तो निष्काम भक्तिका ही बोध होता है। फिर श्रीहनुमान्‌जीके मिलन-प्रसंगमें इनकी शुद्ध साधुता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त वे रावणके द्वारा बार-बार तिरस्कृत हो उसे हितकी शिक्षा देते गये। यथा—*'बार बार पद लागउँ बिनय करउँ दससीस। परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस॥'*— इत्यादिसे भी विभीषणकी साधुवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। वे यही चाहते थे कि रावण भी भगवद्भक्त हो जाय जिससे उसका तथा निशिचरकुलका नाश न हो। श्रीरामगीतावलीमें इस प्रसंगको दिखलाते हुए गोसाईंजी कहते हैं—*'सब भाँति बिभीषन की बनी।'''''हिय कुछ और और कीन्हीं बिधि राम कृपा औरै ठनी॥'* हृदयमें तो उनके था कि रावण राम-शरण होकर सुधर जाय और उसका राज्य-वैभव भी ऐसा ही बना रहे। परन्तु विधिने विभीषणको ही घरसे निकलवा दिया और श्रीरामकी कृपासे और ही बात हो गयी अर्थात् विभीषण ही लंकेश बन गये। अतः मानना पड़ेगा कि इस प्रसंगके पूर्व विभीषणको राज्य-वासना नहीं थी। पहलेकी राज्य-वासना मानेंगे तो रावणको दी हुई विभीषणकी शिक्षा असत्य और दम्भपूर्ण माननी होगी, जो विभीषण-जैसे साधुके लिये सर्वथा असम्भव है, फिर यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब विभीषणकी पहलेसे राज्य-वासना नहीं थी और उपर्युक्त प्रसंगमें कारणवश कुछ हो गयी थी वह भी रामदर्शनसे नष्ट हो गयी थी, तब भगवान्‌ने उन्हें राज्य क्यों दिया? उत्तर यह है कि प्रथम तो भगवान्‌की बान ही है कि अपने भक्तोंकी स्वप्नमें भी उठी हुई इच्छाको पूरा किये बिना नहीं रहते, दूसरे मानसिक भावसे विभीषणको राज्य तो उसी समय दे चुके थे जिस समय लङ्कामें रावणके *'मम पुर'* कहनेपर उनके हृदयमें राज्यवासनाकी किञ्चित् वासना हुई थी, श्रीभगवान्‌के दरबारमें ऐसे अवसरोंपर विलम्ब कैसे हो सकता है?

नोट—२ पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि विभीषणजी कहते हैं कि पहिले मुझे कुछ ऐश्वर्यकी कामना रही। अतः तीनों भाइयोंने साथ ही तप आरम्भ किया। वरदानमें भी मैंने बिना शिक्षाके ब्रह्मास्त्रकी प्राप्ति ब्रह्मदेवसे माँगा, यथा—**'अशिक्षितं च ब्रह्मास्त्रं भगवन् प्रतिभातु मे।'** (वाल्मी०। ७। १०। ३१) रावणके साथ लंकामें रहा, राजकार्यमें भी हाथ बँटाता था, यथा—*'करत राज लंका सठ त्यागी।'* दाँतोंमें जीभकी भाँति रहनेपर भी लंका परित्याग नहीं किया। इन सबका कारण अब यदि मैं विचार करता हूँ तो मालूम होता है कि मुझमें कुछ ऐश्वर्यकी वासना अवश्य रही। पर अब वह भी नहीं है, सरकारकी प्रीतिकी नदी ऐसी उमड़ी है कि उसका कुछ पता भी नहीं है कि कहाँ गयी, अतः अब मैं सदा शिवमनभावनी निर्भय रामभक्तिका पात्र हुआ हूँ। अतः उसीको माँगता हूँ। कुछ भी वासना रहते जीव निर्भराभक्ति नहीं पा सकता।

नोट—३ श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि कुछ वासना चरणारविन्दोंके दर्शनके विषयमें थी, वह अब नदी-रूप होकर प्रवाहित हो चली है, यह आपके दर्शनका प्रभाव है। यह राज्यकी वासना नहीं है। इत्यादि। इसीको मा० त० सु० कारने अपने शब्दोंमें यों लिखा है—(१) *'कछु बासना'* अर्थात् पहले अपनी तामस प्रकृतिको स्मरणकर अपने ऊपर आपकी कृपाकी कामना कुछ-कुछ मेरे हृदयमें थी (राज्यकी नहीं), यथा—*'तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥ तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पदसरोज*

मन माहीं॥' जो वासना पहले बहुत थोड़ी थी वह अपने ऊपर पूर्ण कृपा देख प्रभुपदमें प्रीतिरसरूप नदी हो उमगकर बह चली, यथा—***'पद अंबुज गहि बारहिं बारा।'*** यहाँपर कुछ वासना राज्यसम्बन्धी कहनेसे श्रीविभीषणजीकी भक्तिमें न्यूनता आ जायगी, क्योंकि वे परमानन्य भागवत हैं, यथा—***'समदरसी इच्छा कछु नाहीं।''''''*** (२) ***'अब'*** का भाव कि यद्यपि भक्तजन अनपायिनी भक्तिसे पूर्ण रहते हैं, तथापि जब-जब प्रभुको वे अति प्रसन्न देखते हैं तब-तब वही भक्ति माँगकर विषयादि सुखसे अनिच्छा सूचित करते हैं, जैसे यहाँ शिवमन-भावनी कहा और उत्तरकाण्डमें शिवजीने अनपायिनी भक्ति माँगी, यथा—***'पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग',*** तो क्या उनमें यह भक्ति न थी? यद्यपि थी, किंतु यह परमभक्तोंका लक्षण ही है।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी श्रीकरुणासिन्धुजीके भावसे सहमत होते हुए लिखते हैं कि विभीषणजीको राज्यलोभ नहीं था यह पूर्व दिखाया जा चुका है। भक्ति पूर्वसे प्राप्त थी तो भी फिरसे भक्तिकी ही याचना करनेमें सिद्धान्तभूत हेतु है जिसका विवरण ३४ (१) में देखिये। भक्तिके प्रभावका मायाके प्रभावसे रुक जाने अथवा कामादि विकारोंसे कलुषित हो जानेकी सम्भावना तबतक रहती है जबतक भगवान् स्वयं कृपा करके भक्ति प्रदान नहीं करते हैं। देवर्षि नारद, गरुड़, सती तथा भुशुण्डीजी सभीके भक्ति-राकेशको मोहरूपी राहुने ग्रस लिया था यह मानसमें लिखा है। फिर भक्ति माँगनेवाले प्रभुको बहुत भाते हैं, यथा—***'माँगेहु भगति मोहि अति भाई', 'सुनि मुनि बचन राम मन भाए॥'*** (३। ११; सुतीक्ष्णप्रसंग) इस कथानकसे सिद्ध हुआ कि मंगलाचरण श्लोक २ विभीषण-चरित्रका सूचक है।

टिप्पणी—४ (क) ***'अब कृपाल निज भगति''''''''''*** इति। जबतक किञ्चित् भी अन्य कोई भी वासना हृदयमें रहती है तबतक प्रभु अपनी ***'निज भक्ति'*** नहीं देते। क्योंकि भक्ति प्रभुकी अति प्रिय वस्तु है, यथा—***'माँगेहु भगति मोहि अति भाई।'*** (७। ८५। ५), ***'पुनि रघुबीरहि भगति पियारी।'*** (७। ११६। ४) प्यारी वस्तु कोई जल्दी नहीं देता। देखिये भुशुण्डीजीपर प्रसन्न होनेपर भी ***'प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥'*** यद्यपि ये निष्काम भक्त थे और इनका सिद्धान्त था कि ***'भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥'*** (७। ४८) तथापि उनके माँगनेपर कि ***'सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम।'*** वह भक्ति दी है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि **'सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः। स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥'** (५। १९। २७), यह सत्य है कि भगवान् सकाम पुरुषोंको माँगनेपर अनेक अभीष्ट पदार्थ देते हैं; किन्तु यह असली पदार्थ नहीं है, क्योंकि उन्हें फिर भी कामनाएँ होती ही रहती हैं। इसके विपरीत जो उनका निष्काम भावसे भजन करते हैं, उन्हें तो साक्षात् अपने चरणकमल ही दे देते हैं, जिन्हें पाकर मनुष्यकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

इसी तरह नाविक केवटको बहुत प्रलोभन दिया जानेपर भी जब उसने कुछ न लिया तब उसे सांसारिक भोगोंसे निस्पृह देखकर श्रीरामजीने अपनी निर्मल भक्ति दी। यथा—***'बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवटु लेइ। बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥'*** (२। १०२)

जबतक विषयमें स्वाद मिलता है तबतक भगवद्भक्ति फीकी लगती है, यथा—***'तुलसी जौं लौं बिषय की मुधा माधुरी मीठि। तौं लौं सुधा सहस्र सम रामभगति सुठि सीठि॥'*** (दोहावली ८३); इसीसे भगवान् अपनी भक्ति नहीं देते। विषयवासनारहित होनेपर ही देते हैं। इसलिये ***'प्रभु पद प्रीति सरित सो बही'*** अर्थात् वासनाका नाश कहकर तब भक्तिका वर माँगा। यह 'अब' शब्दसे जना दिया।

(ख) ***'कृपाल'*** का भाव कि कृपा करके दीजिये, मुझमें उसके प्राप्तिका साधन कुछ भी नहीं है। यथा—***'जप जोग धर्मसमूह ते नर भगति अनुपम पावई।'*** सो ये मुझमें नहीं हैं। (ग) ***'निज भक्ति'*** अर्थात् अपने रामावतारकी भक्ति दीजिये कि जिससे निषाद, कोल, किरात, गीध, वानर, निशाचरादि कृतार्थ हुए। ('निज' का अर्थ 'खास; सच्ची, जो आप कठिनतासे किसीको देते हैं' यह भी है)। रामभक्तिके आचार्य शंकरजी हैं। निर्विकार और अनपायिनी भक्ति शिवजीके पास है, यथा—***'रिषि पूछी हरिभगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई॥'*** (१। ४८। ४), ***'सदा सिव भावनी'*** अर्थात् उनमें अचल भक्ति है। [श्रीशिवजीकी

मनभावती भक्ति कौन है, यह उनके *'बार बार बर माँगऊँ हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायिनी भगति सदा सत्संग॥'* (७। १४) इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है। वे सदा सत्संगयुक्त अनपायिनी भक्ति माँगते हैं। यही विभीषणजीका अभीष्ट है। (प० प० प्र०)]

प० प० प्र०—*'उर कछु प्रथम बासना रही।……'* इस अर्धालीके चरणोंमें और *'देहु सदा सिव मन भावनी'* में १५-१५ मात्राएँ देकर जनाया कि विभीषणजी स्तुति करते-करते प्रेमानन्दविभोर हो गये, वाणी रुकने लगी, कण्ठ गद्गद हो गया।

नोट—४ *'अब कृपाल निज भगति पावनी।……'* इति। अ० रा० में भी भक्ति माँगी है, यथा—'**न याचे राम राजेन्द्र सुखं विषयसम्भवम्। त्वत्पादकमले सक्ता भक्तिरेव सदास्तु मे॥**' (६। ३। ३७) अर्थात् हे 'राज-राजेश्वर! मैं विषयजन्य सुख नहीं चाहता! आपके चरणकमलोंमें मेरी आसक्तिरूपा भक्ति सदा बनी रहे।' और भगवान् रामने यह वर दिया भी।

प० प० प्र०—विभीषणकृत स्तुति स्वाती-नक्षत्र है।

(१) स्वाति पंद्रहवाँ नक्षत्र है, वैसे ही यह स्तुति भी १५ वीं है।

(२) नक्षत्रका नाम स्वाति (स्व+अति) है और विभीषणजी श्रीरामजीको अपने प्राणोंसे भी अति प्रिय हैं। यथा—*'तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सोइ सेला॥'* (६। ९३। २) अतः नामसाम्य मिल गया।

(३) स्वाति नक्षत्रमें एक ही तारा है, वैसे ही इस स्तुतिमें शरणागति (प्रपत्ति) एक ही साधन है।

(४) नक्षत्रका रूप विद्रुमके समान है। मूँगा क्रूर ग्रह मङ्गलका रत्न है वैसे ही विभीषणजी क्रूर रावणके भाई हैं।

(५) इस नक्षत्रका देवता वायु है और विभीषणजीको वायुनन्दनने ही भगवान्‌का स्वभाव, सुयश आदि सुनाया था। *'श्रवन सुजस सुनि'* कहते हुए ही वे प्रसन्न हुए। पवनदेव और पवनपुत्र समान ही हैं, यथा—*'पवन तनय बल पवन समाना।'*

(६) *'कामद घन दारिद दवारि के'* इसकी फलश्रुति है। और यहाँ *'रावन क्रोध अनल निज……अखंड।'* है। श्रीरामकृपावारिधरने अपनी कृपारूपी वृष्टिसे उस 'दवारि' को शान्त कर दिया। और मोहदरिद्ररूपी दवारिको सदैवके लिये बुझा देनेवाली अपनी भक्ति-चिन्तामणि दे दी। भाव कि विभीषणजीको पूर्णकाम बना दिया।

एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा। माँगा तुरत सिंधु कर नीरा॥ ८ ॥
जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघु जग माहीं॥ ९ ॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन बृष्टि नभ भई अपारा*॥ १० ॥

अर्थ—'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) कहकर रणधीर प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने तुरंत समुद्रका जल माँगा (अर्थात् जो इच्छा है वह दी और जो इच्छा पूर्व थी, अब नहीं रह गयी, वह भी पूरी की; क्योंकि 'गई बहोर' हैं)॥ ८॥ और, 'हे सखा! यद्यपि तुम्हारी इच्छा नहीं है परंतु मेरा दर्शन संसारमें निष्फल नहीं जाता, (तात्पर्य कि मेरी इच्छासे इसे लो), ऐसा कहकर श्रीरामजीने उनका तिलक किया। आकाशसे फूलोंकी अपार वृष्टि हुई॥ ९-१०॥

टिप्पणी—१ (क) *'एवमस्तु'* ऐसा कहनेसे आशीर्वाद हो गया; श्रीरामजीका वचन सत्य है, यथा—*'सखा बचन मम मृषा न होई।'* (४। ७। २३) भक्तिके मिलनेसे सब पदार्थ मिलते हैं इसीसे भक्तिके मिलनेपर लंकाका राज्य भी मिलेगा। (ख) *'प्रभु रनधीरा'* अर्थात् श्रीरामजी रनमें धीर हैं और शत्रुसे जीतनेमें समर्थ हैं, रावणको मारकर विभीषणको राज्य-सिंहासनपर बिठायेंगे। पुनः, भाव कि कोई शत्रुको उपायसे जीतनेको समर्थ होता है पर रणधीर नहीं होता और कोई रणधीर होता है पर शत्रुको जीतनेको समर्थ

* ब्र० चं०—पायकुलक।

नहीं होता। श्रीरामचन्द्रजीमें दोनों गुण हैं। [भक्ति प्रदानमें 'प्रभु' के साथ 'रणधीर' शब्दकी आवश्यकता न थी। इसे भी देकर सूचित करते हैं कि भक्ति तो दे ही दी पर अब शीघ्र रणदुन्दुभी बजेगी। इत्यादि। (प० प० प्र०) पूर्ण साहसी और रणधीर पुरुष ही ऐसा कर सकता है। यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' है। (वीरकवि)] (ग) *'तुरत'* इति। श्रीरामदर्शन तथा प्रसन्नताका फल शीघ्र मिलता है। (घ) *'माँगा सिंधु कर नीरा'* इति। सिंधुका जल माँगा, क्योंकि सिंधु सब तीर्थोंका जल है—**'अहो महत्त्वं महतामपूर्वं विपत्तिकालेऽपि परोपकारः। आस्यस्य मध्ये पतितश्च राहो रविः शशिः पुण्यचयं तनोति॥'** (साहित्यदर्पण)

नोट—१ *'माँगा तुरत'* इति। किससे माँगा? यह अध्यात्मरा० में खोला है। वहाँ भक्तवत्सल श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे कहा है कि 'यह अभी मेरे दर्शनका फल देखे। तुम समुद्रसे जल ले आओ। मैं इसे लंकाके राज्यपर अभिषिक्त किये देता हूँ।……' यथा—**'इत्युक्त्वा लक्ष्मणं प्राह श्रीरामो भक्तभक्तिमान्। पश्यत्विदानीमेवैष मम सन्दर्शने फलम्॥' लंकाराज्येऽभिषेक्ष्यामि जलमानय सागरात्।……। इत्युक्त्वा लक्ष्मणेनाम्बु ह्यानाय्य कलशेन तम्।** (६। ३। ४२—४४) श्रीलक्ष्मणजीसे जल मँगवाया और वे लाये। **'पश्यत्विदानीमेवैष मम सन्दर्शने फलम्'** का भाव यहाँ *'तुरत'* और *'मोर दरस अमोघु'* शब्दोंमें जना दिया है। वाल्मी० में भी श्रीलक्ष्मणजीसे ही जल लानेको कहा है। पर उन रामायणोंमें श्रीलक्ष्मणजीने ही तिलक किया है। यहाँ श्रीरामजीने स्वयं उनका तिलक किया। सुग्रीवजीका तिलक बालि-वधके पश्चात् किष्किन्धा नगरमें हुआ था, इसलिये श्रीलक्ष्मणजीने उनका तिलक किया और यहाँ वन है, नगर नहीं है; अतः स्वयं श्रीरामजीने किया। यह ग्रन्थकारका सँभाल है। इससे विभीषणपर विशेष कृपा भी सूचित की।

टिप्पणी—२ *'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।……'* इति। विभीषणजीने जो कहा है कि *'उर कछु प्रथम बासना रही।……'* उसीपर ये वचन कहे गये जिनका तात्पर्य यह है कि हमारी इच्छा ऐसी ही है अतः मेरी इच्छासे इसे लो। यथा—*'दिये पीठ पाछे लगै सनमुख होत पराय। तुलसी संपति छाँह ज्यों लखि दिन बैठि गँवाय॥'* (दो०) *'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं'* यह कथन *'उर कछु बासना रही'* का तिलक है, *'कछु'* का अर्थ यह खोला है। इससे प्रभुका अन्तर्यामी होना दिखाया। विभीषणजीने 'अन्तर्यामी' विशेषण देकर तब कहा था कि *'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभुपदप्रीति सरित सो बही॥'* उन्होंने स्पष्ट न कहा कि लंकाराज्य लेनेकी वासना थी, (क्योंकि अब वह रह ही नहीं गयी तब कहकर क्या करते। श्रीरामचन्द्रजी अन्तर्यामी हैं, अतः उन्होंने अन्तःकरणकी बात खोलकर कह दी। यद्यपि तुमको राज्यकी चाह नहीं है, तथापि मैं अपने दर्शनका फल देता हूँ। यदि प्रभु ऐसा न कहते कि तुमको इच्छा नहीं है तो सम्भव था कि उनको संदेह होता कि श्रीरामजी हमारे हृदयकी न जान पाये इसीसे हमें राज्य देते हैं; यदि हम स्पष्ट कह देते कि हमें राज्यकी इच्छा नहीं है तो राज्य न देते। वे अन्तर्यामी नहीं हैं।

नोट—२ नाटकीय कलामें भी यही अति उत्तम है कि उधर वासना गुप्त रखी जाय, पर भगवान् जान लें। कला और भी उभर आती है कि भगवान्‌ने इतनी शीघ्रता की कि इन्कार (अस्वीकार) करनेका अवसर ही न मिले। फिर देवताओंद्वारा पुष्पवृष्टिका होना तो महाकाव्य और नाटकीय दोनों कलाओंके एकीकरणमें सोनेके साथ सुगन्धका काम करता है। (श्रीलमगोड़ाजी)।

☞जो लंकाधिपतित्वका बीज *'कहु लंकेस सहित परिवारा'* में बोया था वह अंकुरित होकर यहाँ *'मोर दरसु अमोघु'* पर वृक्षरूप होकर *'तिलक तेहि सारा'* पर फलित हो गया। फलके रसकी प्राप्ति रावणवधपर *'तिलक सारि अस्तुति अनुसारी'* पर होगी। (मा० त० सु०)

मा० त० सु०—१ ☞इस कार्यसे यह उपदेश सूचित किया कि शरणमें प्राप्त होते ही तुरन्त ही सभी सुख अनायास प्राप्त होते हैं। २—*'तव इच्छा नाहीं……'* का भाव कि तुमको इच्छा नहीं है, परंतु संसारके लोग कहेंगे कि रावणसे अनादृत हो जिस राज्यके लोभसे विभीषण रामजीकी शरण गये वह उनको न प्राप्त हुआ; इन अल्पज्ञ जीवोंके मोहकी निवृत्तिके लिये, मेरे प्रति विशेष कामनायुक्त जीवोंकी शीघ्र प्रवृत्तिके लिये और मेरे दर्शनका अमोघ-फल दातृत्व दिखानेके लिये इसे तुम ग्रहण करो। यथा दोहावली—*'काह बिभीषन*

लइ मिलेउ काह दियो रघुनाथ। तुलसी यह जाने बिना मूढ़ मींजिहहिं हाथ॥' इसका आशय यह है कि मूर्ख यही कहेंगे कि जैसे विभीषण राज्यकी इच्छासे मिले वैसे ही प्रभुने भी दिया, किंतु यथार्थमें ऐसा नहीं है; क्योंकि विभीषणजी परमप्रेम लेकर मिले और श्रीराघवजीने उन्हें अविरल भक्ति दी; इस भावको न जान मूर्ख हाथ मींजते रह जायँगे, यानी प्रभुका उपहास करेंगे, अतएव लंकाराज्य भी दिया।

नोट—३ प्रायः पं० शिवलाल पाठक आदिने वही अर्थ किया है जो टिप्पणीमें दिया गया। अर्थात् लंकामें जब रावणने लात मारी तब उसका नाश सोचकर स्वयं राजा होनेकी इच्छा हुई थी, वह प्रभुके दर्शनके साथ ही दूर हो गयी।

टिप्पणी—३ *'मोर दरसु अमोघ……'* इति। *'जग माहीं'* का भाव कि यह बात जगत्‌में प्रसिद्ध है कि मेरा दर्शन निष्फल नहीं जाता। [वाल्मीकीयमें रावणवधके पश्चात् ब्रह्माजीने स्तुति करते हुए कहा है कि **'अमोघं देव वीर्यं ते न ते मोघाः पराक्रमाः। अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः। अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि। ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम्। प्राप्नुवन्ति सदा कामानिह लोके परत्र च॥'** (६। १२०। २९—३१), आपका वीर्य अमोघ है, आपका पराक्रम निष्फल नहीं होता। हे श्रीराम! आपका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता। आपकी स्तुति भी कभी निष्फल नहीं जाती और जो लोग आपकी भक्ति किया करते हैं, उनको भी अमोघ फल प्राप्त होता है।—इसीसे जगत्‌में प्रसिद्ध कहा है। श्रीरामका दर्शन, स्तुति, भक्ति सभी अमोघ हैं और अमोघ फल देनेवाले हैं]। अथवा, लोगोंकी इहलोक और परलोक दोनोंकी कामनाएँ प्राप्त हो जाती हैं। अतः तुम्हारी दोनों कामनाएँ पूर्ण करता हूँ। इस समय तिलक करके इहलोकसुख देता हूँ, अन्तमें मेरा धाम तो मिलेगा ही। यथा *'करेहु कलप भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं। पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं॥'* (६। ११५) [मिलान कीजिये—**'न भवति महतां हि क्वापि मोघ प्रसादः'** (हरिविलास) अर्थात् महत्पुरुषोंकी प्रसन्नता कभी खाली नहीं जाती।]

टिप्पणी—४ *'अस कहि राम तिलक तेहि सारा……'* इति। (क) यहाँ सिन्धुजलका ले आना न लिखा। इससे शीघ्रता दिखायी। *'तिलक तेहि सारा'* से ही जना दिया कि वह माँगते ही तुरंत ले आया गया था। *'माँगा तुरत'* अतएव 'तुरत लाये।' (तिलकमें इतना उत्साह है कि बीचमें कुछ और कहनेका विलम्ब कवि नहीं सह सके)। यथा—*'जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहि काजु प्रथम जनु कीन्हा॥'* (२। ७। १) तथा यहाँ समझना चाहिये कि जिसे यह आज्ञा दी गयी उसने इतनी शीघ्रतासे इसे किया मानो पहलेसे ही ला रखा था।

टिप्पणी—५ *'सुमन बृष्टि नभ भई अपारा'* इति। देवताओंको निश्चय हो गया कि रावण अब अवश्य मारा जायगा; क्योंकि विभीषणका तिलक प्रभु कर चुके, बिना रावणवधके इनको राज्य कैसे मिल सकता है? देवताओंने अपना स्वार्थ समझकर तिलक होनेपर फूल बरसाये, नहीं तो वे न बरसाते। यह बात रावणवधपर स्पष्ट हो जाती है क्योंकि जब राज्य वस्तुतः उनको मिला और लङ्कापुरीके राज्यसिंहासनपर उनका राज्याभिषेक किया गया तब इन्होंने फूल न बरसाये। और, इसी प्रकार सुग्रीवके राज्याभिषेकपर पुष्प-वर्षा न की थी। यहाँ *'आये देव सदा स्वारथी।'* (६। १०९। २) चरितार्थ हुआ।

टिप्पणी—६ विभीषणजीपर सब प्रकारसे प्रभुने कृपा की। वह सब यहाँ पूज्य कविने दिखाया है—

(१) उनसे उठकर मिले, यथा—*'तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा।'* (४६। १)

(२) उनको हृदयमें लगाया, यथा—*'भुज बिसाल गहि हृदय लगावा।'* (४६। २)

(३) उनको समीप बिठाया, यथा—*'अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी।'* (४६। ३)

(४) उनसे कुशल पूछी, यथा—*'कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर……।'* (४६। ४)

(५) उनका दर्द पीड़ा समझे, यथा—*'खल मंडली बसहु दिन राती। सखा धर्म……।'* (४६। ५)

(६) उनके धर्मकी सराहना की, यथा—*'मैं जानौं तुम्हार सब रीती। अति नय निपुन……।'* (४६। ६)

(७) अपना स्वभाव कहा, यथा—*'सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ।'* (४८। १)

(८) उनका साधु गुण सराहा, यथा—*'सुनु लंकेस सकल गुन तोरे।'* (४९। १)

(९) उनको भक्ति दी, यथा—*'एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा।'* (४९। ८)

(१०) उनका तिलक किया, यथा—*'अस कहि राम तिलक तेहि सारा।'* (४९। १०)

☞नोट—४ यहाँपर कई उपदेश हमको मिलते हैं।

(१) प्राय: लोग कहा करते हैं कि मनको प्रथम वशमें करो तब भजन करो; बिना मनके वश हुए भजन व्यर्थ है। इसी चिन्तामें लगे हुए अनेक कर्म, धर्म आदिमें अल्प आयु बीत जाती है। प्रभुने विभीषणजीको शरण आनेपर तिलक करके राजा बना दिया, पर यह न कहा कि जाओ अब शत्रुसे लड़कर राज्य ले लो; किंतु स्वयं शत्रुसे लड़कर उसको मारकर राज्य दिया। इससे उपदेश दिया है कि जो हमारी शरणमें आवेगा उसको हम तुरंत अभय देते हैं कि इनसे न डरो और फिर धीरे-धीरे स्वयं हम ही उसके मनको काबूमें (उसके वशमें) कर देते हैं। मुमुक्षुको चाहिये कि तुरंत शरण हो जाय, और यह भरोसा रखे कि प्रभु हमें मोहादिपर जय देंगे। हमारा कर्त्तव्य यही है कि हम शरण होकर भजनमें तत्पर हो जायँ, मन लगे या न लगे—प्रभुका काम प्रभुपर छोड़ें, अपना कर्त्तव्य आप करें।

(२) तिलकके विषयमें भी जनाया कि यदि तिलकका सामान किसी जगह न हो तो तीर्थजलसे ही तिलक कर सकते हैं।

दो०—रावन क्रोध अनल निज श्वास समीर प्रचंड।
जरत बिभीषन राखेउ* दीन्हेउ राजु अखंड॥
जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिए दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥४९॥

अर्थ—रावणका क्रोध अग्नि है, विभीषणकी वा रावणकी ही अपनी श्वासा प्रचण्ड वायु है। इस प्रकार रावणकी प्रचण्ड क्रोधाग्निसे विभीषणको प्रभुने जलतेसे बचाया और अखण्ड राज्य दिया। जो ऐश्वर्य शिवजीने दस सिर चढ़ा देनेपर रावणको दिया था वही सम्पत्ति श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणजीको सकुचकर दी॥ ४९॥

टिप्पणी—१ *'निज स्वास समीर'* अर्थात् विभीषणजीकी श्वासा समीर है। तात्पर्य कि रावण क्रोधी है, क्रोधसे जलता रहता है, और विभीषण क्षमाशील हैं। जब वह क्रोध करता है तब ये ऊर्ध्वश्वास लेकर रह जाते हैं, क्रोध नहीं करते।† पवनकी तरह शीतल हैं। आगसे पवन गर्म हो जाता है, पर रावणके क्रोधसे इनमें गर्मी नहीं होने पाती, साँस शीतल ही रहती है। जैसे पवनसे अग्नि प्रचण्ड होती है, वैसे ही विभीषणके ऊर्ध्वश्वास लेनेसे रावणका क्रोध बढ़ता है। वह सोचता है कि यह मनका कपटी है, ऊर्ध्वश्वास लेकर रह जाता है कुछ कहता नहीं। जब रावण अनीतिकी बात करता है तब और मन्त्री प्रशंसा करते हैं, पर ये उसकी प्रशंसा न कर उलटे ऊर्ध्वश्वास लेते हैं, जिससे रावण क्रोध करता है कि यह हमारी बड़ाई नहीं सह सकता, उनकी अर्थात् शत्रुकी बड़ाईकी बार वक्ता बनता है और हमारी बार मौन धारण कर लेता है। अतएव उक्त कारणोंसे यहाँ 'निज' पद दिया। 'निज' से रावणका अर्थ नहीं हो सकता;

---

* राखा—ब्र० चं०—'रावन·······' दोहरा, 'जो·······' चल दोहा। 'जो संपति·······' में उपमानसे उपमेयमें अधिकत्व वर्णन 'व्यतिरेक अलंकार' है। (वीर)

† श्रीलमगोड़ाजी—फारसीके एक कविने भी कहा है 'वितर्स अज आहे मजलूमाँ कि हंगामे दुआ करदन। इजाबत अज़दरे हक़ बहरे इस्तकबाल मी आयद।' ऐसे व्यक्तियोंकी आहसे डरो कि जिनको तुम सता रहे हो। कारण कि प्रार्थना करते समय भगवान्‌की स्वीकृति स्वयं स्वागतके लिये उनके द्वारसे आगे बढ़कर आती है। बात भी ठीक है। वे सत्य (हक) हैं, असत्य (ना-हक) का नाश ही होगा। धर्मपर निर्भर राजनीतिका कितना सुन्दर दृश्य है। विभीषणकी आहका असर (प्रभाव) रावण-राज्य-नाशमें भी कितना प्रबल है।

क्योंकि रावणके ऊर्ध्वश्वाससे रावणका क्रोध कैसे बढ़ेगा? (ख)—विभीषणको जलनेसे बचाया अर्थात् प्राणकी रक्षा की और अखण्ड राज्य दिया। (ग) 'अखण्ड' का भाव कि रावणके राज्यका खण्डन हुआ पर विभीषणके राज्यका खण्डन कोई नहीं कर सकता।

पं०, मा० त० सु०—१ इस दोहेमें 'निज' पद श्लेष है, इसका कारण यह है कि यह रावण, विभीषण और श्रीरामजी तीनोंमें लग सकता है। इसी प्रकार 'प्रचण्ड' पद अनल और समीर दोनोंके साथ लग सकता है—(क) रावणका क्रोध प्रचण्ड अग्नि है और उसका क्रोधमय श्वास समीर है, दुर्वचन कहना यह भी साँस है, यथा—*'खल तोहि निकट मृत्यु अब आई।'* इत्यादि।—[करुणासिंधुजीने यही अर्थ किया है। श० सुं० दा० और नं० प० जीने 'अपने श्वासरूपी प्रचण्ड वायुसे प्रज्वलित होनेवाले रावणकी क्रोधाग्निमें' यह अर्थ किया है।] (ख) निज=विभीषणका। [रा० प्र०, दीनजी, वीरकवि, आदिने यही अर्थ रखा है]। (ग) रावणपर जो श्रीरघुनंदनजीका अपना क्रोध है वही अग्नि है। इस क्रोधाग्निसे बचानेवाला कोई नहीं, यही अग्निकी प्रचण्डता है। यथा—*'संकर सहस बिष्नु अज तोही।'''''''* श्रीसीताजीका श्वास प्रचण्ड समीर है। यथा—*'राम कोह पावक समीर सीय श्वास।'* (क०)।

☞ रामचन्द्रजीको यहाँ दृढ़व्रत, भविष्यके यथार्थ ज्ञाता और निज कर्तव्यपर दृढ़ दिखाया है।

मा० हं०—स्वामीजीने विभीषण-राज्याभिषेकमें रामजीकी प्रशंसा इस दोहेमें की है। यह दोहा **'या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेऽपि शंकरात्। दर्शनाद्रामदेवस्य सा विभूतिर्विभीषणे॥'** (हनु० ना० ७। १४) इस सुभाषितका अक्षरशः भाषान्तर है। परंतु दोहेमें कविने केवल 'सकुचि' इतना ही पद डालकर कैसा काव्यकलानैपुण्य दिखलाया यह विचार करने योग्य है। अत्याचार और हिंसासे मिलायी हुई, अतएव खूनसे भरी हुई लंकाकी राज्यरूपी अपवित्र सम्पत्ति भक्त विभीषणको देकर शुद्धको अशुद्ध ही बनाना होगा; अथवा विभीषणकी सहायतासे यदि सीतादेवीका लाभ हो तो लाभके प्रमाणसे लंकाकी सम्पत्ति दर्यावमें खसखस-सी ही होगी; इन विचारोंसे रामजी 'सकुचि' यानी लज्जित हुए। एक 'सकुचि' पद डालनेसे श्रीरामजीकी कृतज्ञता, वात्सल्य और औदार्य कैसे ध्वनित हुए, यह कोई भी स्पष्ट देख सकता है। कवित्वगुण ईश्वरदत्त होता है, इसमें कुछ संदेह नहीं।

नोट—१ *'सकुचि दीन्ह'* इति। ऐसा ही कविने अन्यत्र भी कहा है। यथा—*'जो संपति दससीस अरपि कै रावन सिव पहिं लीन्ही। सोइ संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्ही॥'* (वि० १६२) संकोचके दो कारण तो ऊपरके लेख (मा० हं०) में आ गये कि अत्याचार और हिंसासे सनी हुई अपवित्र सम्पत्ति ऐसे परम भक्तको दे रहे हैं, इत्यादि; और भाव ये हैं कि हमने इसको कुछ भी तो न दिया। लंका जो दी वह भी इस समय जली-भुनी हुई है, उसकी सारी विभूति राखमें मिल गयी है और यहाँ हमारे पास कुछ है नहीं जो देते, श्रीअवधमें होते तो भले ही कुछ देते। यह भाव दोहावलीके *'बलकल बसन (भूषन) असन फल तृनसज्या द्रुमप्रीति। तिन्ह समयन लंका दई यह रघुबरकी रीति॥'* (१६२) इस पदसे ध्वनित होता है। (पं० रा० कु०) अथवा, भक्त तो *'तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी'* होते हैं, उनके लिये यह तुच्छ है। (वं० पा०) वा, यह राज्य तो तृणासन-सदृश तुच्छ है यह समझकर सकुच है। यथा—*'बार कोटि सिर काटि साटि लटि रावन संकर पै लई। सोइ लंका लखि अतिथि अनवसर राम तृनासन ज्यों दई॥'* (गी० ५। ३८) अथवा, यह तो उसीके घरकी है, उसीकी वस्तु उसको दी इसमें क्या उपकार हुआ। (बं० पा०, पां०, रा० प्र०) अथवा, पहले तो हमने इन्हें निज भक्ति दी। अब यह तुच्छ सम्पत्ति देते हैं जो भक्तिका बाधक है अतः सकुचे। (मा० त० सु०)

श्रीलमगोड़ाजी—'सकुचि' पर संकेतकला ही निछावर है (न जाने और कितना देना चाहते हैं!)। फिर 'सकुचि' इतना गूढ़ बन पड़ा है कि व्याख्या ही मूक हो जाती है।

टिप्पणी—२ *'सकुचि दीन्ह'* इस कथनसे दिखाया कि ऐसे-ऐसे भारी तपसे भी प्रभुकी शरणागतिका माहात्म्य अधिक है। उसने जो तपसे पाया वह इसने शरण लेने मात्रसे पा लिया। पुनः, जो (शिवजीने)

तपका फल समझकर दिया (वही ऐश्वर्य) श्रीरामजीने अपनी शरणका माहात्म्य समझकर संकोचसे दिया (अर्थात् इतना ही देनेमें लज्जित होते थे)। इसमें ग्रन्थकार किसीको न्यूनाधिक्य नहीं कहते, (वस्तुतः ऐसा ही है कि) हजार वर्षका तप श्रीरामजीको एक बार प्रणाम करनेके बराबर भी नहीं तुल सकता, यथा—**'दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय'** अर्थात् दशाश्वमेधीका तो पुनर्जन्म होता है पर भगवान्‌को प्रणाम करनेवालाका जन्म नहीं होता।

नोट—२ सुग्रीवको बालिवधके पीछे राज्य दिया। रावणके जीते-जी ही विभीषणजीका तिलक किया। यह क्यों? उत्तर-(क) श्रीजानकीजीको धैर्य देनेके लिये। (ख) इससे जनाया कि अब उसको मृतक समझो। (मा० शं०)। (ग) सुग्रीव माधुर्यके उपासक थे, उन्हें प्रथम श्रीरामद्वारा बालिवधकी प्रतीति न हुई। 'दुन्दुभि-अस्थिताल' के द्वारा परीक्षा ले ली तब ***'बालि बधब इन्ह भइ परतीती'।*** इसीसे पहले बालि-वध करके उनको राज्य दिया। सुग्रीवने बलको ही विशेषरूपसे देखा छबिको नहीं। यथा—***'पुरुष जुगल बल रूप निधाना', 'आवत देखि अतुल बल सींवा'*** इत्यादि। और, विभीषणजी प्रथमसे ही ऐश्वर्य भावको दृढ़ ग्रहण किये थे, रावणको भी ऐश्वर्यका उपदेश किया था और जब चले तब भी प्रभुके ऐश्वर्यका स्मरण किया, यथा—***'जे पद परसि तरी……'*** इत्यादि। फिर जब प्रभुका अवलोकन किया, तब योगियोंका ही परम ध्येय-स्वरूप ही देखा, यथा—***'बहुरि राम छबिधाम बिलोकी'*** इत्यादि। अतः प्रभुने भी अपना ऐश्वर्य दरसाते हुए रावणके जीते-जी तिलक कर दिया। (मा० त० सु०, मां० शं० म०)

नोट—३ किन्हीं-किन्हीं विद्वानोंको उपर्युक्त दोहेमें स्वामीजीका भरपूर पक्षपात नजर आनेके कारण उन्होंने बड़ी ही कड़ी टीका की है। वे लिखते हैं कि 'स्वामीजी उक्त दोहेके द्वारा रामजीकी प्रशंसा करनेके लिये शंकरजीकी निन्दा करनेको जरा भी नहीं हिचकते।' घोड़ा मैदान सामने ही है, हमें अधिक वाच्यता करनेकी आवश्यकता नहीं।—(नोट—यह दोहा हनुमन्नाटकके श्लोकका अनुवादमात्र है। इससे यह भी स्वयं सिद्ध है कि जो लोग गोस्वामीजीपर लाञ्छन लगाते हैं वे कम पढ़े हैं, उनको और रामायणोंका ज्ञान नहीं है, नहीं तो वे ऐसा न करते। गोस्वामीजीके जन्मके न जाने कितने पूर्व अन्य रामायणें रची गयीं जिनमें यही कहा गया है।)

वि० त्रि०—यहाँ शिवजीका प्रकरण नहीं है, प्रकरण रामजीका है, अतः इस दोहेकी प्रवृत्ति शिवजीके अपकर्षकथनमें नहीं है, केवल रामजीकी स्तुति करनेमें है। **'न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवृत्तः किन्तु विधेयम् स्तोतुम्'।** निन्दाका तात्पर्य; जिसकी निन्दा की जाती है, उसके निन्दामें नहीं है, बल्कि विधेयकी स्तुतिमें है।

बलाबलाधिकरणमें **'सा वैश्वदेव्याऽऽभिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्'** वह छेना विश्वदेवके लिये है, छेनाका पानी बाजी देवताओंके लिये। वैश्वदेवयागमें छेना दिया जाता है। प्रकरण यहाँ विश्वदेवका है बाजी देवताका नहीं है, अतः यहाँ बाजी देवताको छेनाका पानी देनेमें आकांक्षा नहीं है। अभिप्राय इतना ही है कि विश्वदेवको छेना दिया जाय, बाजी देवताको छेनाका पानी देनेमें कोई तात्पर्य नहीं।

इसी भाँति यहाँ रामजीके उत्कर्षमें वाक्यका तात्पर्य है, शिवजीके अपकर्षका नहीं, क्योंकि यहाँ रामजीका प्रकरण चल रहा है, शिवजीका नहीं चल रहा है। शास्त्रके इस रहस्यके न जाननेवाले, एक देवताके प्रकरणमें दूसरेकी निन्दा देखकर, तथा भस्मरुद्राक्षके प्रकरणमें तुलसी ऊर्ध्वपुण्ड्रकी निन्दा तथा ऊर्ध्वपुण्ड्र तुलसीके प्रकरणमें भस्मरुद्राक्षकी निन्दा देखकर घबराते हैं, और बड़े भ्रममें पड़ जाते हैं। वाक्यजन्य-ज्ञान-निरूपक शास्त्रकी पदे-पदे आवश्यकता पड़ती है। जिन्हें यहाँ शिवजीकी निन्दाकी गन्ध आती है, निःसंदेह वे वाक्यजन्य ज्ञानके कारणोंसे नितान्त अनभिज्ञ हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—यहाँकी तुलनामें जैमिनिजीका सिद्धान्त न भूलें कि बहुधा तुलना करनेमें हम अपने प्रतिपाद्य व्यक्तिका आदर बढ़ाना चाहते हैं, पर दूसरेका अनादर करना हेतु नहीं होता। यहाँ शंकरजीका निरादर नहीं है, बल्कि उनके 'महादेव' (महादानी) वाले गुणकी सराहनाके आधारपर श्रीरामजीको अधिक बड़ा प्रमाणित